विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी

"णमो बंभीए लिवीए"

डॉ प्रेमसागर जैन

प्रोफेसर एव अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

दि जैन कॉलिज, बड़ौत (उत्तर प्रदेश)

वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर

वी. नि. स. २५०१

प्रकाशक
श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति,
४८, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर–४५२ ००२, (म प्र)
आवरण : विष्णु चिचालकर

प्रथम आवृत्ति
वी नि स. २५०१
ईस्वी सन् १९७५

मूल्य दस रुपये

मुद्रक
नई दुनिया प्रेस,
इन्दौर

विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी
भाषा विज्ञान
डा. प्रेमसागर जैन

Vishwa Ki Mul Lipi Brahmi
Linguistics
Dr. PREMSAGAR JAIN

इस ग्रन्थ के प्रेरणा-दीप

मा भारती के वरद पुत्र, विश्व-मैत्री के
प्रतीक और वीतरागता के तपी साधक
१०८ मुनिश्री विद्यानन्दजी के
चरण-कमलो मे

सश्रद्ध समर्पित

अरह मुघल येजहू थेल्लों आदि ।
भगवन् निम्बा कलुत्तधम् पलवे ।।१।।

अवर्णो वर्तते लोके शब्दानाप्रथमो यया ।
तथादि भगवानस्ति पुराणपुरुषोत्तम ।।१।।

'अ' जिस प्रकार शब्दलोक का आदि वर्ण है, ठीक उसी प्रकार आदि भगवान् आदिनाथ पुराण-पुरुषो मे आदिपुरुष है ।

आशीःवचन

ब्राह्मी को लेकर नाना कथन और उपकथन चले । शोध-खोज के सतत प्रवाह मे यह स्वाभाविक भी है, किन्तु ब्राह्मी भारतभूमि पर जन्मी, पली और बडी हुई, ऐसा निर्विवाद सत्य है । जैन अनुश्रुतियो मे उसके अनेकानेक उदाहरण सुरक्षित है । कर्मसृष्टि के प्रारम्भ मे अन्तिम कुलकर नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव ने अनेक विद्याएँ प्रजा, पुत्रो और अपनी पुत्रियों को दी । इनके बिना भोगभूमि का कर्मभूमि मे रूपान्तरण सही न हो पाता । वह सही हुआ, सफल हो सका, इसका एकमात्र श्रेय प्रजापति की अनूठी प्रतिभा, श्रम और पौरुष को ही था । उन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि का ज्ञान दिया, ऐसा जैनधारा मे प्रमाणित है । ब्राह्मी उसमे खो गई, दोनो का तादात्म्य अनूठा था । उससे ब्राह्मी, ब्राह्मी न रह कर लिपि हो गई और लिपि 'लिप उपदेहे' छोड कर अलिपि हो उठी । तो, लिपि ब्राह्मी कहलायी और ब्राह्मी लिपि । दोनों के समायोजन की कथा इस भारतभूमि पर लिखी गयी । कोई विदेशी आज भले ही उसे अपना कहे ।

प्रजापति ऋषभदेव ने ब्राह्मी को अक्षरज्ञान दिया । वह स्थूल था किन्तु सूक्ष्म भी । वह भौतिक था किन्तु आध्यात्मिक भी । वह साकार था किन्तु निराकार भी । ब्राह्मी के अध्यात्म मे डूबे सतत मन ने, दीर्घ तप और साधना ने दोनों को उजागर किया । शायद यही कारण है कि 'आत्मानुशासन' के रचयिता ने अक्षर समाम्नाय का चरम प्रयोजन परमात्म-प्राप्ति माना । और शायद यही कारण है कि 'कल्याण मंदिर' का स्तोता 'किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश !' कह सका । योगवासिष्ठ का ऋषि 'लिपिकर्मार्पिताकारा' होकर ही ध्यानासक्त मन से परमात्मा को पा सका । प आशाधर ने 'आध्यात्म रहस्य' मे शब्द और अर्थ के ग्रहण को उपयोग कहा । उनकी दृष्टि मे शब्द-गत उपयोग 'दर्शन' और अर्थगत उपयोग 'ज्ञान' कहलाता है । और पुरुष-आत्मा दर्शन-ज्ञान रूप है । तो, अभारतीय विद्वान ब्राह्मी लिपि को जिस कैमरे से खींचते रहे, वह केवल स्थूल उपकरणों से बना था । उसके सूक्ष्म अध्यात्मालोक को उतार पाने मे वह नितान्त असमर्थ रहा ।

जैन-श्रुत मे अक्षर, वर्ण, शब्द, पद और वाक्यों का विशद विवेचन मिलता है । विशद का अर्थ है कि उनके सभी पहलुओं को भली-भाति जाचा-परखा गया है । उसमे लिपि के बाह्यागों का पूर्ण व्यक्तीकरण हुआ है तो प्रयोजन-गत सूक्ष्म भाव भी गोपनीय नही रह सके है । इसी आधार पर जैनाचार्यों ने लिपि को द्रव्य लिपि

और भाव लिपि के रूप मे दो भागो मे बांटा है। वर्णमाला के आदि अक्षर 'अ' की महिमा से ऐसा स्पष्ट है। लिखा मिलता है कि—"अकारचन्द्रकान्ताभ सर्वज्ञ सर्वहित-करम्।" इसका अर्थ है कि चन्द्र की कान्तिवाला 'अ' सर्वज्ञ है और सर्वहितकारी है 'सर्वज्ञ' जैन पारिभाषिक शब्द है। सर्वज्ञ वही होता है, जिसे केवलज्ञान हो जाये। केवल ज्ञान से तात्पर्य है कि जीवात्मा परमात्म रूप हो गया हो, अर्थात् परमानन्द बन गया हो, अर्थात् ज्योतिमय हो गया हो——ऐसी ज्योति जो कभी चुके न, सदैव बनी रहे——शाश्वत चिरन्तन। 'नन्दिकेश्वर काशिका' की 'अकार सर्ववर्णाग्र्य प्रकाश परम शिव' पंक्ति से इसकी पुष्टि होती है। इसका अर्थ है कि अकार परम प्रकाश है——ऐसा प्रकाश जो परम शिव है। यहाँ प्रकाश और शिव दो पृथक् तत्त्व नहीं है। पृथक्त्व सम्भव नही है। दिव्य प्रकाश वही है जो शिव हो और शिव वही है जो दिव्य प्रकाश-सा छिटका हो। 'अकार' ऐसा ही है।

वर्णमाला के अन्तिम वर्ण 'ह' को लेकर 'अकार' ने जिस बीजमन्त्र की रचना की वह पूर्ण सर्वहितकारी है। बीजमन्त्र है——अर्हम्। 'विद्यानुशासन' मे अर्हम् को परमसत्ता का प्रतीक कहा गया है। वह शक्ति-सम्पन्न है। जो प्रति दिन इसका ध्यान करता है, वह सब प्रकार से सदैव सुखी रहता है। योगीजन इस परम ज्योतिरूप अक्षरब्रह्म का ध्यान कर स्वयं ज्योतिरूप हो जाते है, तत्त्वानुशासन का यह कथन सर्वथा सत्य है। इसमे 'अ' अमृत है, 'र' रत्नत्रय है और 'ह' मोह-हन्ता है। तीनो का समन्वय जो समूची वर्णमाला को आप्यायित किये है, परमब्रह्म है। आचार्यो ने उस परम ब्रह्म को 'सिद्धचक्रस्य सद्बीज सर्वत प्रणमाम्यहम्' कह कर प्रणाम किया है। एक कारिकाकार ने 'र' को छोड कर 'अ' और 'ह' से अहम् पद की सृष्टि की है और लिखा है——अह स्ववाचक, आत्मबोधक शब्द है, अत अक्षरो का सत्य आत्म-प्राप्ति मे ही उपलब्ध होता है।

यायावर श्रमण साधुओ ने ब्राह्मी लिपि को एक युग से दूसरे युग तक और एक देश से दूसरे देश तक फैलाया, यह एक प्रामाणिक बात है। प्राचीन साहित्य और पुरातत्व से इसकी पुष्टि होती है। राहुल साकृत्यायन ने 'घुमक्कड शास्त्र' मे इसके अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये है। एक आचार्य थे दोलामस——नितान्त नि सग और नग्न। सम्राट सिकन्दर ने उन्हे अपने शिविर मे बुलाया, वे न गये तो स्वयं आया और उनकी आध्यात्मिक मस्ती से प्रभावित हुए बिना न रह सका। लौटते समय वह उनके संघ के कुछ साधुओं को अपने साथ ले गया। यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है। इसी आधार पर प सुन्दरलाल कह सके कि—"पश्चिमी एशिया यूनान, मिश्र और इथियोपिया के पहाडो और जगलो मे उन दिनो हजारो जैन सन्त महात्मा जा-जाकर जगह-जगह बसे हुए थे।" तो, जैन साधुओ ने वहाँ-वहाँ अध्यात्म फैलाया। माध्यम था ब्राह्मी लिपि और उसकी वर्णमाला। आदान-प्रदान ने कुछ नये रूप दिये, किन्तु वे ब्राह्मी से पृथक् कैसे कहे जा सकते है।

उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों की मुख्य लिपि थी खरोष्ठी। चीनी विश्वकोष फा-वान-शुलिन का यह कथन सत्य-सा लगता है कि उस के स्रष्टा कोई खरोष्ठ नाम के आचार्य थे। 'खरोष्ठ' की व्युत्पत्ति वृषभोष्ठ से मानना युक्ति-संगत है। वर्ण-विपर्यय से यह सम्भव है। इस के अतिरिक्त, प्रजापति वृषभदेव ने अपनी पुत्रियों को बायें से दायें लिखना सिखाया तो दायें से बायें भी। साथ ही, ब्राह्मी के अठारह भेदों में खरोष्ठी का नामोल्लेख हुआ है, ऐसा समवायांग आदि जैन ग्रन्थ और ललित-विस्तर जैसे बौद्ध ग्रन्थ में प्रमाणित ही है।

जैन सन्दर्भ में ब्राह्मी लिपि पर एक ग्रन्थ की रचना होनी ही चाहिए, ऐसा मेरे मन में आया था। आज से तीन वर्ष पूर्व, मैंने यह बात डॉ प्रेमसागर जैन से कही। काम कठिन था, किन्तु वे सहमत हो गये। लगन के साथ लगे रहे। कार्य सम्पन्न हुआ। मुझे पूर्ण सन्तोष है। प्रसन्नता है। धर्म और धर्म के नाना दृष्टिकोणों के तुलनात्मक विवेचन तथा विभिन्न भाषाओं के विशद अध्ययन ने ही नहीं, अपितु उन्मुक्त खुले चिन्तन ने डॉ प्रेमसागर जैन को एक ऐसी व्यापक निष्ठा दी है, जिससे वे मन साध कर काम कर पाते हैं। यह ग्रन्थ उनके सधे मन और सतत श्रम का प्रतीक है। उनका मंगल हो।

महावीर जयन्ति,

वीर निर्वाण सं २५०९

प्रकाशकीय

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर का यह प्रकाशन कई दृष्टियो से बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण है। यह न कोई जीवनी है, न उपदेश अपितु जैन सस्कृति की गरिमा को उद्‌घोषित करनेवाला एक तथ्यमूलक प्रकाशन है। सब जानते है भाषा और लिपि न केवल भारतीय वरन् विश्व-सस्कृति की अनिवार्य आवकताएँ है। ब्राह्मी लिपि दादी माँ है, प्राय समस्त भारतीय लिपियो की। वह मात्र आकृतियो की तालिका नही है, अपितु आध्यात्मिक प्रेरणाओ की सूक्ष्म सकलिका भी है। जैन सदर्भ मे ब्राह्मी और ब्राह्मी लिपि, जिन्हे लोकमानस करीब-करीब भुला चुका है, को जाँचने-परखने का यह प्रथम प्रामाणिक और तर्कसगत प्रयास है। विद्वान् लेखक ने इसे लिखने मे परिश्रम तो अनथक किया ही है साथ ही जहाँ भी सभव हुआ है उसने प्राचीन जैन ग्रन्थो, शिलालेखो, ताम्रपत्रो, रजत एव स्वर्णपट्टो तथा मूर्तिलेखो मे तथ्यदोहन भी किया है। हमे विश्वास है, ग्रन्थ के प्रकाशन से विद्वज्जन तो लाभान्वित होगे ही, उन लोगो को भी नय तथ्य और मौलिक सामग्री मिलेगी जो लिपि का क, ख, ग भी नही जानते।

"लिपि व्युत्पत्ति और विश्लेषण" के अन्तर्गत लेखक ने अभिनव सामग्री का सयोजन किया है। विषय-वस्तु के जटिल और दुरूह होते हुए भी उसने अपने सहज व्यक्तित्व की सरसता से उसे हरा-भरा और सुखद बनाया है इसीलिए जानलेवा मरुस्थल मे भी कई शाद्वल-खण्ड देखे जा सकते है, कई सघन अमराइयो की छाँव मे विश्राम किया जा सकता है। हमे भरोसा है, विषय की जटिलता पाठक को कही रोकेगी या थकायेगी नही, वह सर्वत्र विभोर और प्रसन्न बना रहेगा।

अब यह तथ्य प्राय सर्वसम्मत है कि भगवान् ऋषभदेव पूर्ववैदिक थे और उन्होने कर्मभूमि का प्रवर्तन किया था। उन्होने प्रजा को छह आवश्यक नित्यकर्म बताये थे, तथा उसे नाना विद्याओ की शिक्षा-दीक्षा दी थी। उन्होने अपनी बडी बेटी ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान दिया था। ब्राह्मी ने लिपि की गहरी साधना की थी। वह लोकप्रिय थी, लोकानुरजिनी। उसने स्थानीयता के तथ्य का अध्ययन किया था और तदनुसार १८ लिपियो का प्रचलन भी। इन सबका विशद विवेचन जैन ग्रन्थो मे सुरक्षित है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे लेखक ने केवल जैन ही नही वरन् बौद्ध स्रोतो की भी सहायता ली है और अभी तक अजाने-अविदित तथ्यो को प्रकट किया है। ब्राह्मी कभी दिवगत नही हुई, उसका स्वभाव सदैव लोकोन्मुख रहा, उसने हर युग, देश और काल मे नया रूपाकार ग्रहण किया और बदलते हुए सदर्भो मे समायोजित होते हुए भी वह अत्यन्त वैज्ञानिक और आध्यात्मिक बनी रही। उसका सास्कृतिक व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहा। इसीलिए आज भी भारत की प्रत्येक लिपि पर ब्राह्मी की छाप देखी जा सकती है। इसी दृष्टि से लेखक ने नागरी को 'आधुनिक ब्राह्मी' अभिहित किया है। हमे विश्वास है लिपि के इतिहास मे एक क्वाँरा अध्याय खोलनेवाला यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। परम पूज्य उपाध्याय मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज की प्रेरणा से प्रकाशित यह ग्रन्थ पाठको मे तो लोकप्रिय होगा ही, विद्वज्जनो मे भी भरपूर समादृत होगा। समिति कृतज्ञ है विद्वान् लेखक, कलामर्मी श्री विष्णु चिचालकर तथा नई दुनिया प्रेस की जिन्होने एक समन्वित प्रयत्न द्वारा इसे इतना कलात्मक और निर्दोष रूप प्रदान किया है। —मन्त्री

अनुक्रम

डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि मोहन-जो-दरो-लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी-वर्णों के सदृश या लगभग वही हैं। इसके अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णों मे स्वरमात्राओ के लगाने की ब्राह्मी-विशिष्टता भी मोहन-जो-दरो-लिपि मे प्राप्त होती है।

□

ब्राह्मी सार्वभौम थी। महापण्डित राहुल साकृत्यायन का अभिमत है कि यदि कोई एक ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख जाये, तो वह अन्य लिपियो को थोडे ही परिश्रम से सीख सकता है और शिलालेख आदि का पढ सकता है, क्योकि सारी लिपियाँ ब्राह्मी से ही उद्भूत हुई है। जैन यायावर साधु सीलोन और जावा-सुमात्रा तक ही नही, अपितु पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथियोपिया आदि देशो के पहाडो और जगलो मे जा-जा कर जगह-जगह बसे हुए थे। वहाँ उन्होने ब्राह्मी लिपि का प्रचार-प्रसार किया।

□

महावीर का तीर्थंकाल पश्चिम के अरस्तू और चीन के शुइन-त्सू के सिद्धान्तों का मध्य स्रोत तथा पायथेगोरस और कन्फ्यूशस की विचार-क्रान्ति का मिलन-स्थल माना जाता है।

□

ब्राह्मी लिपि पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। उसमे प्रत्येक ध्वनि के लिए निश्चित चिह्न है। घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक—सभी प्रकार की ध्वनियो के लिए लिपि-चिह्न निर्धारित है। ध्वनि तथा उसके प्रतीक चिह्न के उच्चरण मे यत्किञ्चिद् भी अन्तर नही है। सेमेटिक और आर्मेइक मे सबसे बडी कमी है कि उसमे ध्वनि के अनुरूप अक्षर नही है। दीर्घ स्वर का नितात अभाव है।

आमुख

तदेव तस्मै कस्मैचित्परस्मै ब्रह्मणेऽमुना ।
सूक्ष्मेणेदं मन शब्दब्रह्मणा संस्करोम्यहम् ।।

—अध्यात्म-रहस्य

भारत की पुरालिपि और पुराविद्या के साधकों को उन पाश्चात्य पण्डितों का कृतज्ञ होना ही चाहिए, जिन्होंने अल्पसाधनों के मध्य भी इन विषयों पर लिखा साधन सीमित थे, सामग्री अल्प थी और वे दूर-देशान्तरों की भाषा और लिपि के परिवेश में पनपे और बढ़े थे। उनका दृष्टिकोण भिन्न होना स्वाभाविक था। उन्होंने जैसा समझा लिखा। आज हमारी गवेषणाओं के लिए उनका दिया आधार तो है ही। नये साधन, नयी सामग्री और नये युगबोध के सन्दर्भ में, यदि उनका लिखा हुआ दूर-दराज से आती आवाज-सा मालूम पड़े तो आश्चर्य का विषय नहीं है। गवेषणा का रथ सतत चलता है। किसी एक की शोध-खोज मील का अन्तिम पत्थर नहीं होती। यह भी नहीं होगा, ऐसा मैं विनत हो मानता हूँ।

ब्राह्मी लिपि का मूलदेश भारत नहीं था, भारतनिवासी लिपिविद्या में शून्य थे, उन्हें यह ज्ञान बाहरी देशों के सम्पर्क से मिला आदि अनेक बातें चल पड़ी थीं। सब-से-पहले ओझा जी ने, 'प्राचीन लिपिमाला' में इन सब पर तटस्थ होकर विचार किया। वे विशुद्ध भारतीय थे। उनका दृष्टिकोण भी वैसा ही था। वे सच्चे शोधक और जिज्ञासु थे। फिर भी, उनके काल तक, जैन शास्त्र-भण्डार बन्द थे। उनमें प्रवेश असम्भव-प्राय था। ओझाजी विवश थे, ठीक वैसे ही जैसे प्रो. जैकोबी, जैसे डा. विण्टरनित्स। आज वह सामग्री उपलब्ध है। मैंने उसका यथासम्भव यथाशक्य प्रयोग किया है। फिर भी, बहुत कुछ ऐसा बच गया होगा, जिसे मैं नहीं देख सका हूँ। उसे अन्य देखेंगे, ऐसा विश्वास है।

ब्राह्मी के उद्गम को खोजते हुए अनेक कल्पनायें की गईं। किसी ने वेद, किसी ने ब्रह्म, किसी ने ब्राह्मण और किसी ने ब्रह्मदेश को ब्राह्मी का जनक बताया। किन्तु श्रमणधारा के आदि प्रवर्तक सम्राट ऋषभदेव की ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। मैंने अपने ग्रन्थ 'भरत और भारत' में उनका उल्लेख किया है। ऋषभदेव के पिता नाभिराय अन्तिम कुलकर थे। अन्तिम होते हुए भी दीर्घायु, समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-विक्रम और विपुल गुणों के कारण

सब-से-अग्रिम थे। श्रीमद्भागवत् मे उन्हे आदि मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नीध्र के नौ पुत्रों मे ज्येष्ठ माना है। महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदारगुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे। उनके समय मे एक बृहद् परिवर्तन हुआ कि यह पृथ्वी भोगभूमि से कर्मभूमि मे बदलने लगी। उन्होंने इस बदलते युग को दृढता-पूर्वक सम्भाला, अपनी निष्ठा, श्रम और प्रतिभा के बल पर उसे व्यवस्थित किया, जिससे त्राहि-त्राहि करती प्रजा सुख-सन्तोष की साँस ले सकी। शायद इसी कारण उनकी स्थायी यादगार के रूप मे इस देश को अजनाभवर्ष कहा जाने लगा। डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाता था।"[१]

नाभि-पुत्र ऋषभदेव ने प्रजा को कर्म की शिक्षा दी। उसमे निष्णात बनाया। वे कर्म के वरेण्य दूत थे। उन्होंने कर्मभूमि मे रहना सिखाया। वे सब-से-पहले आदमी थे, जिन्होंने "शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा"—जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। खेती की पहली शिक्षा ऋषभदेव ने दी थी, इस बात को शायद विश्व न जानता हो। ऐसे उद्धरण जैन ग्रन्थो मे सुरक्षित है। सच यह है कि खेती से ही कर्मभूमि की मुख्य समस्या का समाधान हुआ, और आर्य कृषि-जीवी कहलाये। यदि भारत इस 'कृषि-जीवी' की परम्परा को अक्षुण्ण रखता, तो वह कभी-भी अधोगति को प्राप्त नहीं हो सकता था। आज भी उसकी उन्नति कृषि मे ही सुरक्षित है। ऋषभदेव ने तो उस पर इतना अधिक ध्यान दिया कि उसके माध्यम वृषभ को अपना चिह्न माना। वे वृषभलाञ्छन कहलाये। पुरातत्त्वज्ञ इस चिह्न से ही उनकी मूर्त्तियों को पहचान पाते है। इतिहास के पुराने पृष्ठों पर बचा यह एक ऐसा उद्धरण है, जिसे अपनाकर आज भी भारत राष्ट्रों का शिरमौर बन सकता है। जब मिसीसीपी की धरती खेती मे डालर उगा सकती है, तो गगा, यमुना, सिन्धु और नर्मदा की पावन-भूमि क्यों नही ? एक ऐसा प्रश्न है, जिससे भारत गणतन्त्र सबक तो ले ही सकता है।

खेती मे इक्षुदण्ड स्वत प्रसूत थे, किन्तु प्रजा उनका उपयोग करना नही जानती थी। ऋषभदेव ने उसकी विधि बताई। उनसे रस निकालना सिखाया। उस पर बल दिया। यहाँ तक कि उन्होंने अपने को इक्ष्वाकुवशी कहा। महापुराण मे लिखा है, "आकानाच्च तदिक्षूणा रस-सग्रहणे नृणाम्। इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसम्मत ॥"[२] आज का भारत इन इक्ष्वाकुवशियों का वशधर है। सही

---

१ मार्कण्डेयपुराण सांस्कृतिक अध्ययन, पादटिप्पड-1, पृ 138

२ महापुराण, भगवज्जिनसेनाचार्य, 16/264

अर्थों मे बने तो उसकी अगण्य समस्याएँ स्वत हल हो जायेगी । क्या अरब का तैल और भारत का इक्षु समकोटि मे नहीं आ सकते । यह भारतवासियों पर निर्भर करता है ।

ऋषभदेव ने केवल कृषि ही नही, असि, मषी, विद्या, वाणिज्य और शिल्प की भी शिक्षा दी । ये षड् जीवनोपयोगी उपाय थे, जिनमे उन्होंने अपनी प्रजा को निपुण बनाया । इतना ही नही, कलाओं के तो वे जनक ही थे । उन्होंने ७२ कलाओं का ज्ञान प्रदान किया । उनमे एक लेखन कला भी थी । मषी जीवनोपयोगी उपायों मे पहले ही मे मौजूद थी । अर्थात् लेख और मषी दोनो की शिक्षा ऋषभदेव ने दी । दोनों का सयोग लिपि की ओर इशारा करता है । यह सहस्रों वर्ष पूर्व की बात है, जबकि पाश्चात्य देशो ने ठीक से रहना और कपडे पहनना भी नही सीखा था । भोगभूमि के बाद, सब-से-पहला यही देश था, जिसने जीवनोपयोगी उपायो को सीखा और साधा । शिक्षक थे ऋषभदेव, जिनका उल्लेख वेदो से लेकर श्रीमद्भागवत् तक अविच्छिन्न रूप से मिलता है ।[१] डॉ पी सी राय चौधरी का अभिमत है कि भगवान् ऋषभदेव ने पाषाण युग के अन्त मे और कृषि युग के प्रारम्भ मे जैनधर्म का प्रचार मगध मे किया ।[२] शायद डॉ चौधरी को यह विदित नही था कि कृषि के आविष्कर्त्ता ऋषभदेव ही थे ।

श्रमणधारा के ग्रन्थो मे ऋषभदेव की जैसी प्रशसा मिलती है, उससे कही अधिक वैदिक ग्रन्थों मे । वे दोनो मे समरूप से आदरणीय बने । श्रमण और वैदिक दोनो धाराएँ बहुत दूर तक एक-दूसरे की पूरक रही । मुनियो की प्रशसा उसी प्रकार हुई, जैसे कि ऋषियो की । श्रीमद्भागवत मे "नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभ ।"[3] लिखा मिलता है तो श्रीमद्भगवत् गीता मे भी, "दु खे-ष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह । वीतरागभयाक्रोध स्थितिर्धी मुनिरुच्यते ।।"[४] लिखा गया । इस सन्दर्भ मे डॉ मगलदेव शास्त्री का एक कथन दृष्टव्य है, "ऋग्वेद के एक सूक्त (१०/१३६) मे मुनियो का अनोखा वर्णन मिलता है । उनको वातरशना (दिगम्बर), पिशगा, बसतेमला और प्रकीर्णकेशी इत्यादि कहा गया है । यह वर्णन श्रीमद्भागवत् के पचम स्कन्ध मे दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है । वहाँ स्पष्ट शब्दों

---

१ देखिए—ऋग्वेद 4/6/26/4, अथर्ववेद—16वा काण्ड-प्रजापतिसूक्त, महाभारत—शान्ति-पर्व 12/64/20, वायुपुराण—पूर्वार्द्ध 30/50-51, ब्रह्माण्डपुराण 14/49, लिंगपुराण 47/29, श्रीमद्भागवत्—5/4/2, 5/4/14, 1/17/22/5/5/19 आदि

2 Jainism in Bihar P 7 L. P.

३ श्रीमद्भागवत्, 5/6/24

४ भगवद्गीता, 2/56

मे कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमणमुनियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।"[१]

ऋषभदेव ने यदि एक ओर कर्म और श्रम का उपदेश दिया तो दूसरी ओर "प्रबुद्धतत्त्व पुनरद्‌भुतोदयो ममत्त्वतो निर्विविदे विदाम्बर।" का दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया। वे योगिराज बने। उन्होंने स्वय अपने कर्मों को अपनी समाधि की अग्नि मे भस्म कर दिया। उन्हे ब्रह्म सज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। उनका क्षत्रिय शब्द सार्थक था। उन्होंने जैसी वीरता लौकिक कर्म मे दिखाई, वैसी ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी। वे सागरवासमा वसुधा वधू के पति थे तो उन्होंने मोक्षलक्ष्मी का भी वरण किया था। उन्होंने इस भूमि पर जीना सिखाया, तो मोक्ष तक पहुँचने का मार्ग भी उन्होंने ही दर्शाया था। वे इस पृथ्वी के अधिराट थे तो कैवल्यपति भी वे ही थे।

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे और दो पुत्रिया--ब्राह्मी और सुन्दरी। भरत को राज्यश्री सौंप कर ऋषभदेव प्रव्रजित हो गये। चलते समय उन्होंने कहा कि— "हमारा यह पुत्र प्रजाओ के पालन-पोषण मे समर्थ प्रमाणित होगा।" वह सिद्ध हुआ, यहाँ तक कि भरत शब्द 'प्रजाओ के भरण-पोषण' अर्थ मे रूढ हो गया और 'भरणात् पोषणाच्च'[२] कहा जाने लगा। महात्मा तुलसीदास ने तो उस व्यक्ति को भरत के समान कहा, जो ससार का, सुचारु ढग से 'भरण-पोषण' करता है। उनका कथन है, 'विस्व भरणपोषण कर जोई। ताकर नाम भरत-अस होई।"[३] भरत की चिरस्मृति मे इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। अर्थात् नाभि के पौत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान थे। तभी तो 'अजनाभवर्ष' भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भरत चक्रवर्ती थे, उन्होंने दिग्विजय कर षट्खण्डों को जीता था। जगह-जगह उनके विजयध्वज फहराते थे। वृषभाचल पर बहत्तर जिन चैत्य उनकी विजय के अमरचिह्न थे। उनके उत्तुग शिखर, जैसे भरत के ही मानस्तम्भ थे। गन्धर्व-बालाएँ उनके गुण गाती थीं, इन्द्रसभा के नृत्य और लय उन्हीं की विजयतानों से ओत-प्रोत थे। वेत्रवती के तट पर सिद्धवधुएँ उन्हीं का वीणावादन करती थी। इस अपार वैभव, यश और गरिमा से घिरे भरत वैरागी थे—नितांत वैरागी। उनका मन अनासक्त था। यही कारण था कि दीक्षा के लिए अगरखे की गाँठ खोलते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे राजा होते हुए भी मुनि थे, रागों के मध्य

१ भारतीय संस्कृति का विकास औपनिषद् धारा, पृष्ठ 180.

२ मत्स्यपुराण 114/5-6

३ रामचरितमानस 1/197/7

भी वीतरागी थे, ससार के बीच भी मोक्षगामी थे और वे आसक्तियों के विराव मे भी अनासक्त थे। उन्होंने एक ओर कर्म साधा तो दूसरी ओर अध्यात्म। वे सही अर्थों मे पुरुष थे। पौरष के धनी। इहलोक उनका था, परलोक भी उनका ही बना। वे भारत माँ के अमरपुत्र थे। काश, भारत के महाराजाओं ने उनका अनुकरण किया होता, तो राज्यतन्त्र भी प्रजातन्त्र होता और उनकी उज्ज्वल गाथाये स्वर्णाक्षरो मे लिखी जाती।

ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को नाना कलाओं और विद्याओं मे निष्णात बनाया। सभी योग्य बने। पौरुष तो जैसे साक्षात् हो उठा था। वे क्षत्रिय थे तो 'त्राण सह' उनका जीवन था। वे कर्म और अध्यात्म के सन्धिस्थल पर तेज-पुञ्ज-से दमकते रहे। 'प्रबुद्धतत्त्व' ही उनका जीवनलक्ष्य था, जिसे उन्होंने वीरता-पूर्वक प्राप्त किया। ऋषभदेव की पुत्रियां भी सौ-सौ पुत्रों से अधिक पूतशीला थी। शील और सौन्दर्य तो जैसे उनमे साक्षात् ही हो उठा था। वे शिवरूपा थीं। उचित वय मे भगवान् ने उन्हे भी शिक्षित बनाया। ब्राह्मी बडी थी और सुन्दरी छोटी। दोनो के अगो से स्वर्णरेणु के समान काति विकीर्ण होती थी। जगद्गुरु ऋषभदेव ने दोनों के विनय, शील आदि को देखकर विचार किया कि यह समय इनके विद्या-ग्रहण का है, अत उन्होंने दोनों को सिद्धमातृका के साथ-साथ अक्षर, गणित, चित्र, सगीत आदि का ज्ञान कराया। भगवज्जिनसेनाचार्य के महापुराण[१] मे लिखा है कि ऋषभदेव ने दाहिने हाथ से लिपि और बाये हाथ से अको का लिखना सिखाया। यही कारण है कि लिपि बाये से दायी ओर और अक दाये से बायीं ओर चलते हैं। भगवती सूत्र[२] के एक प्रकरण मे लिखा है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपिज्ञान दिया, अत उसी के नाम पर लिपि को भी ब्राह्मी कहने लगे और 'ब्राह्मी लिपि' नाम प्रचलित हो गया। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मी और लिपि एकरूप हो गई थी। दोनों मे तादात्म्य हो गया था। यह तभी सम्भव है, जब ब्राह्मी ने लिपि के साथ एकनिष्ठता साधी हो। एकनिष्ठता, एकाग्रता और योग पर्यायवाची हैं। अर्थात् ब्राह्मी साधिका थी, जिसने लिपि पर ध्यान केन्द्रित किया था। सच तो यह है कि इक्ष्वाकुवश साधकों का था, योगियों का था, महामानवों का था, जिन्होंने जगत को एक नये साँचे मे ढाला, तो अध्यात्म के पुरस्कर्ता भी बने। उसकी बेटियां भी साधना की प्रतीक थीं। जिस ब्राह्मी के पितामह नाभि के नाम पर, यह देश अजनाभवर्ष और ज्येष्ठ भ्राता भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाया हो तथा जिसके पिता श्रमणधारा के प्रवर्त्तक बने हों, यदि उसके नाम पर लिपि भी ब्राह्मी संज्ञा से अभिहित हो उठी हो, तो आश्चर्य क्या

---

१ महापुराण 16/97, 102

२ अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग 2, पृष्ठ 1126.

है। सब कुछ वशानुरूप था। इस वश की विशेषता थी कि जिसने जो साधा तद्रूप हो उठा। अर्थात् दोनों एक हो गये। सञ्ज्ञा-भेद मिट गया। साधना साधक से कृतार्थ हुई और साधक साधना सिद्ध कर गौरवान्वित हुआ। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे, अब द्वैध मिट गया। दीपक और बत्ती का पृथक्त्व ही चुक गया। बच गई केवल लौ–एक प्रकाश। आज भी उमसे सब प्रकाशवन्त है। उसका नाम है–ब्राह्मी लिपि।

ब्राह्मी के दूसरे भाई थे, बाहुबली। बलिष्ठ लम्बी काया, आजानुबाहु, वृषभ-स्कन्ध और कामदेव-से सुन्दर। भरत-बाहुबलि-युद्ध प्रसिद्ध है। जीत कर भी जिसने अपने अग्रज भरत को ही प्रतिष्ठा दी और स्वय दीक्षा ले तप साधा। उनके नाम पर विपुल साहित्य रचा गया, तो उनकी प्रतिमाएँ भारतीय सस्कृति और कला की गौरवपूर्ण थाती है। उन बाहुबलि को ऋषभदेव ने पूरा पश्चिमोत्तर प्रदेश बँटवारे मे दिया था। उसमे पजाब, सिध, काश्मीर, बिलूचिस्तान, अफगानिस्तान आदि आज के देश शामिल थे। ब्राह्मी का अधिकाश जीवन यहाँ ही व्यतीत हुआ। कल्पसूत्र १, अधि ७ क्षण मे लिखा मिलता है कि–"सा च बाहुबलिने भगवता दत्ता प्रव्रजिता प्रवर्तिनी भूत्वा चतुरशीतिपूर्वं शतसहस्त्राणि सर्वायु पालयित्वा सिद्धा।" ऐसे पर्याप्त उल्लेख मिलते है कि ब्राह्मी दीक्षा लेकर साध्वी हो गई थी। साध्वी ही नही, उनकी अग्रणी बनी थी। उसने तप तपा था। पश्चिमी भूभाग ही उसकी तपोभूमि थी।

गद्दियारों के केन्द्रस्थान भरमौर से एक मील ऊँचाई पर काष्ठ का बना एक देवी-मन्दिर है। उसमे अधिष्ठित प्रतिमा ब्रह्माणी देवी की मानी जाती है। वहाँ के निवासियों का कथन है कि यह पूरा क्षेत्र उसी देवी का पूजा-क्षेत्र था। अब यह निश्चय हो गया है कि यह ब्रह्माणी देवी और कोई नही, ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ही थी। यदि काष्ठ मन्दिर के नीचे खुदाई हो तो बहुत कुछ ऐसा मिल सकता है, जिससे वहाँ ऋषभदेव और बाहुबलि के समय से प्रवाहित श्रमणधारा की कड़ी सिन्धु घाटी के पुरातात्त्विक अवशेषो से जुड जायेगी। फिर भी वहाँ एक वेदी तो ऐसी मिली ही है, जिसकी पुष्पमय चित्रकारी को कनिंघम ने पूर्णविश्वास और प्रामाणिकता के साथ जैन कहा है।[1] सम्राट सिकन्दर ने ३२६ ई पू, रावी के तट पर जैन साधुओं को देखा था,[2] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, अनेक इतिहास ग्रन्थों मे लिखा मिलता है। सिन्धुघाटी की सभ्यता श्रमण सस्कृति की प्रतीक है, इसे प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् मानते हैं। तो वह पूरा क्षेत्र ही कभी श्रमणधारा का प्रतीक था और फिर भरमौर की देवी भी ब्राह्मी थी, ऐसा माना जा सकता है।

---

1 Cunningham, A S R XIV, P 112

2 Kausambi D D, An Introduction to the study of Indian History, Bombay, 1959, Page 180

इस उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ब्राह्मी का अधिवास था। वहाँ ही उसने साधना साधी, तप तपा, पूजी गई, लोक-ख्याति प्राप्त की। लोक-ख्याति से स्पष्ट है कि उसने लोक-लोक को समझा था। शायद इसी कारण उसने लिपि के १८ ढंग बनाये और उन्हें यथा-स्थान प्रचलित किया। अठारह लिपियों का सब-से-पुराना सूत्र जैन ग्रन्थों मे ही उपलब्ध होता है। मैंने प्रासंगिक रूप से उनका विवेचन किया है। श्रमणधारा ने लोक-रुचि को सब-से-अधिक प्रश्रय दिया। ब्राह्मी ने जिन अठारह लिपियों का सृजन किया था, वे लोकानुरूप थीं। आगे चलकर वे ही भारत की अठारह भाषाओं का आधार बनीं। तीर्थंकर महावीर ने उन सब को अर्द्ध मागधी मे सगर्भित किया था।

अर्द्धमागधी वह भाषा थी, जिसमे आधे शब्द मगध के और आधे शब्द अठारह भाषाओं के थे। यही वह भाषा थी, जिसे भारत के हरभाग के और हर जाति के लोग समझते थे। यही वह भाषा थी, जिसके माध्यम से श्रमण साधु जनमानस तक पहुँचते थे और उन्हे अपना बना लेते थे। भाषा के क्षेत्र मे यह एक वैज्ञानिक क्रान्ति थी और उसके जनक थे तीर्थंकर महावीर। तत्त्वार्थवृत्ति मे लिखा है, "अर्द्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मक अर्द्धं च सर्वदेशभाषात्मकम्।"[1] अठारह भाषाएँ 'सर्वदेशभाषात्मकम' की प्रतीक ही थीं। यहाँ तक ही नहीं, एक स्थान पर तो 'सर्वनृभाषा और बहूश्च कुभाषा' के अन्तरनेष्ट होने की बात भी लिखी मिलती है। वह श्लोक है—

> "एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा
> सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषा।
> अप्रतिमसिमपास्य च तत्त्वं
> बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना॥"
>
> म पु. २३/७०

आज भी भारत को ऐसी सार्वभौम भाषा की आवश्यकता है। वैसे श्रमणधारा अपने प्रारम्भ से ही लोक-रुचियों मे प्रवाहित होती रही है। उसी का परिणाम थी अठारह लिपियाँ और उनकी सूत्रधार थी ब्राह्मी। वह अर्द्धमागधी भाषा, जिसे सुर और असुर, आर्य और अनार्य, वनौकस और नागरिक सभी समझते थे, ब्राह्मी लिपि और उसके अष्टादश भेदों मे लिखी जाती थी।[2] अत· यह कहना कि भारतीयों को लिपिज्ञान ईसा से केवल पांच सौ वर्ष पूर्व हुआ, अनुचित है।

---

१ देखिए प महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य-सम्पादित तत्त्वार्थवृत्ति, प्रस्तावना.

२. "भगव च ण अद्धमागही ए भासाए धम्म आइक्खइ। सा वि यणं अद्धमागही भासा भासिज्ज-माणी तेसिं सव्वेसिं आरियं-अणारियाणं दुप्पय-चौप्पयमियपसुपक्खिसरी सिवाणं अप्पणो हियसिवसुहदाय भाससाए परिणमइ।" समवायांगसुत्त ९४

सिन्धुघाटी की खुदाइयों मे मिली कायोत्सर्ग योगियों की मूर्तियों पर खुदी लिपि उनके कथन को एक सशक्त चुनौती है, जिसका कोई उत्तर नहीं है।

सिन्धुघाटी की लिपि और बडली, पिप्रावा तथा अशोक के शिलालेखों की लिपि मे केवल समय का अन्तराल है। समय बहुत बदल देता है। बदलाव ही गति है। गति जीवन है। उसका रुकना ही मौत है। तो, परिवर्त्तन हुआ। ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व और दो सहस्र वर्ष पूर्व में पन्द्रह सौ वर्ष का अन्तर है। परिवर्त्तन स्वाभाविक था। कुछ ऐसा शेष रह गया, जो दोनों को एक वंश का बताने मे समर्थ है। डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि मोहन-जो-दरो-लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी वर्णों के सदृश हैं अथवा लगभग वही हैं। इसके अतिरिक्त व्यञ्जन वर्णो मे स्वरमात्राओं के लगाने की ब्राह्मी-विशिष्टिता भी मोहन-जो-दरो-लिपि मे प्राप्त होती है।[१] डॉ. उदयनारायण तिवारी का तो स्पष्ट अभिमत है कि ब्राह्मी लिपि का प्राचीन रूप सिन्धु घाटी लिपि मे उपलब्ध होता है। सिन्धु घाटी लिपि ही चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक रूपों से गुजरती हुई ब्राह्मी लिपि में परिणत हुई थी।[२] अत ओझा जी का यह कथन कि "प्राचीन शिलालेख अथवा साहित्य, जहाँ भी ब्राह्मी दिखाई दी, अपनी प्रौढ़ अवस्था और पूर्ण व्यवहार मे आती हुई मिली। उसके प्रारम्भिक विकास का पता नहीं चलता,"[३] सुसंगत प्रतीत नहीं होता। उसका प्रारम्भिक रूप सिन्धुघाटी लिपि में सुरक्षित है।

ब्राह्मी सार्वभौम थी, ऐसा अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने कहा कि, "यदि कोई एक ब्राह्मी लिपि को अच्छी तरह सीख जाये, तो वह अन्य लिपियों को थोड़े ही परिश्रम से सीख सकता है और शिला-लेख आदि को पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मी से ही उद्भूत हुई हैं।"[४] दक्षिण की द्राविडी लिपियाँ, जो जावा-सुमात्रा तक फैली थीं, ब्राह्मी से ही निकलीं। यदि ऐसा न होता तो सम्राट अशोक दक्षिण में अपने शिलालेखों को ब्राह्मी में न खुदवाता। दक्षिण भारत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों मे लिखा मिलता है कि ब्राह्मी ऋषभदेव की बडी पुत्री थी। उसी ने अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें-से एक लिपि कन्नड़ हुई। श्रीरामधारीसिंह दिनकर ने इस मान्यता को पल्लवित किया है। श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ ने

---

१. देखिए, 'Indian systems of writing', Govt of India, 1966, Page 9.

२. हिन्दी भाषा : उद्भव और विकास, पृष्ठ 580.

३. प्राचीनलिपिमाला.

४. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन सम्पादित गंगा-पुरातत्त्वांक, 1933, भारतीयो का लिपिज्ञान शीर्षक निबन्ध.

'कन्नड साहित्य के नवीन इतिहास' (पृष्ठ ६) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड़ लिपि निकली है, दक्षिण में सिंहल तथा पूर्व में सुदूर जावा तक जा पहुँची। तमिल लिपि ब्राह्मी की दूसरी शाखा से निकली, अतः कन्नड़ तथा तेलुगु लिपि से भिन्न है। उनका यह भी कथन है कि—यों तो ब्राह्मी लिपि से निकली होने के कारण भारत की तथा एशिया की अन्य सभी लिपियों मे कुछ समानताएँ हैं।

काव्यतीर्थजी ने एशिया तक की बात तो की, किन्तु न जाने क्यों विश्व की बात न कह सके, तो विश्व वालों ने ठीक उलटा कहा कि ब्राह्मी सामी लिपि से निकली है। उनके अपने तर्क हैं, और सोचने की अपनी दिशा है। उनका कथन है कि सेमेटिक और आरमेनियन लोगों ने सब-से-पहले भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और उनके माध्यम से ही भारतीयों को अक्षरज्ञान हुआ। दूसरी ओर जैन ग्रन्थों की अकाट्य साक्षी है कि यायावर श्रमण मुनि भाषा और लिपि को एक युग से दूसरे युग तक और एक देश से दूसरे देश तक पहुँचाते रहे हैं। श्री सत्येकेतु विद्यालकार ने 'भारत का इतिहास' ग्रन्थ मे पृष्ठ ११८ पर लिखा है, "सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उसने जैन धर्म के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया और देश -विदेश मे जैन साधुओं को धर्मप्रचार के लिए भेजा।" बौद्ध महावंश के "तं दिस्वान पलायंत्त निगण्ठो गिरि नाम को ।।२।। अ. ३३" से स्पष्ट है कि सम्राट सम्प्रति के समय मे दिगम्बर मुनियों ने सीलोन में धर्मप्रचार किया था। प सुन्दरलाल ने 'हज़रत ईसा और ईसाई धर्म' में लिखा है, "पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों मे, उन दिनों हज़ारों जैन सत महात्मा जा-जा कर जगह-जगह बसे हुए थे, ये लोग बिलकुल साधुओं की तरह रहते और अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे।"[1] यहाँ तक ही नहीं, हज़रत ईसा के भारत आने और जैन साधुओं से सम्पर्क की बात अत्यधिक प्रसिद्ध हो गई है। सब-से-पहले रूसी पर्यटक नोटोविच ने तिब्बत के हिमिन मठ से प्राप्त पालिभाषा के एक ग्रन्थ के आधार पर लिखा कि—ईसा भारत तथा भोट देश आकर अज्ञातवास मे रहे और उन्होंने जैन साधुओं के साथ साक्षात्कार किया।[2] अब आचार्य रजनीश ने 'महावीर मेरी दृष्टि में' शीर्षक ग्रन्थ मे इस बात को नाना प्रामाणिक युक्ति संगत तर्कों से सिद्ध किया है। श्री अक्षयकुमार जी के एक धारावाहिक निबन्ध से इसकी महत्त्वपूर्ण पुष्टि हुई है। इसके अतिरिक्त, ईसा से भी पूर्व ३२६ में सम्राट सिकन्दर यहाँ से एक जैन साधु को अपने साथ यूनान ले गया था, यह एक इतिहास-प्रसिद्ध बात है।[3] श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

---

१. पं सुन्दरलाल, 'हज़रत ईसा और ईसाई धर्म,' पृष्ठ 22.
२. हिन्दी विश्वकोष, तृ भा., श्री नगेन्द्रनाथ वसु सम्पादित, पृष्ठ 128.
3. "The life of the Budha, by E· I. Thomas, 1927,

ने महावीर के तीर्थंकाल को, पश्चिम के अरस्तू और चीन के शुइन-त्सू के सिद्धान्तों का मध्यस्रोत तथा पायथेगोरस और कन्फ्यूशस की विचार-क्रान्ति का मिलन-स्थल माना है।[1] यह बात विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर के सिद्धान्त उनके तीर्थंकाल मे पूर्व से पश्चिम तक प्रसृत हुए। अवश्य ही श्रमण साधुओं का यायावर विशेषण इस प्रसार का साधक बना होगा।

व्यापारी आता है व्यापार करने, भाषा अथवा अक्षर-ज्ञान देने नहीं। उसका मूल उद्देश्य व्यापार है। उसे सिद्ध करने के लिए भाषा और कुछ अक्षरों का आदान-प्रदान हो जाता है, तो वह स्वाभाविक ही है। उसमे योगदान दोनों तरफ का समान होता है, उसे एकतरफा मान लेना नितात असगत है। किन्तु, धर्म-प्रचार एकतरफा ही होता है। श्रमण साधुओं के पास अपने सिद्धान्त थे, अपनी भाषा और अपनी लिपि। दूसरों को ज्ञान प्रदान करने मे निपुण होने ही के कारण उन्हे उपाध्याय और आचार्य कहा जाता था। तो, बात यही अधिक जचती है कि इन यायावर साधुओं ने ज्ञान के साथ-साथ लिपिज्ञान भी उन-उन देशों को दिया, जहाँ वे गये। शायद इसी कारण महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने भले ही इन साधुओ को 'घुमक्कड' शब्द से सम्बोधित किया हो, किन्तु उन के भिन्न-भिन्न देशों मे जाने और ज्ञान, भाषा तथा लिपि प्रदान करने की बात स्वीकार की है। पहल भारत ने की, यह असंदिग्ध रूप से सत्य है।

सेमेटिक (फोनेशिया) और आरमेनियन (दक्षिण अरबी) दोनों पश्चिमी एशिया से सम्बन्धित हैं। किसी समय यह भू-भाग ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत था। डॉ हीरालाल जैन का अभिमत है कि प्राचीन काल मे भारत और ईरानी जनसमूह एक परिवार था और वह एक-सी बोली बोलता था। उन्होंने 'जसहरचरिउ' की भूमिका मे लिखा है, "उससे (वेदों से) पुराने शब्द रूप उस काल के मिलते है, जब भारतीय और ईरानी जनसमाज पृथक् बोली बोलता था। यह बात वैदिक और प्राचीन ईरानी और पारसियों के प्राचीन धर्मग्रन्थ अवेस्ता की भाषाओं के मिलान से स्पष्ट हो जाती है। यही नही, पश्चिम एशिया के भिन्न-भिन्न भागो से कुछ ऐसे लेख भी मिले है, जिनसे पता चलता है कि उस काल मे अपने आज के अनेक सुप्रचलित नामों व शब्दों का हिन्द-ईरानी समाज कैसा उच्चारण करता था। जिन देवों को हम आज सूर्य, इन्द्र और वरुण कहते हैं, उन्हे हिन्द-ईरानी समूह सुरिअस्, इन्तर और उरुवन् कहते थे।"[2] इस प्रकार भारत और पश्चिमी दो पृथक् जनसमूह नहीं

१ भिक्षु अभिनन्दनग्रन्थ, लक्ष्मीचन्द जैन का निबन्ध 'भारतीय लोकोत्तर गणित-विज्ञान के शोध पथ', पृष्ठ 225

२ जसहरचरिउ, द्वि म, हीरालाल जैन सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, 1972, प्रस्तावना—डॉ हीरालाल जैन लिखित पृष्ठ 29-30.

थे। अतः उनका आदान-प्रदान भी अगर हुआ, तो वह घर के भीतर का था। उ
एक का दूसरे पर प्रभाव नहीं माना जा सकता ।

प्रभावक अधिक सशक्त होता है अपेक्षाकृत प्रभाव्य के। उसमे कुछ ऐसी ऊर्ज
ऐसी गरिमा और ऐसी प्रदीप्ति होती है, जिससे प्रभाव की किरणे फूटती हैं औ
आस-पास का वातावरण प्रदीप्त हुए बिना नही रहता। वह उसके रग मे र
जाता है। इस सब को आज की भाषा मे वैज्ञानिक कहा जा सकता है। ब्राह्मी लि
पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। उसमे प्रत्येक ध्वनि के लिए निश्चित चिह्न है। घोष
अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण और अनुनासिक--सभी प्रकार की ध्वनियों के लि
लिपि-चिह्न निर्धारित है। ध्वनि तथा उसके प्रतीक चिह्न के उच्चारण मे यत्कि
ञ्चित् भी अन्तर नही है। इससे स्पष्ट है कि इस लिपि के निर्माता भाषा शास्
और ध्वनि शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इस सन्दर्भ मे डॉ वासुदेव उपाध्या
का एक कथन दृष्टव्य है, "यह व्यक्त करना अत्यावश्यक है कि वैज्ञानिक रूप
ब्राह्मी मे प्रत्येक अक्षर ध्वन्यात्मक चिह्न है। लिखने तथा बोलने मे समता है, यान
जो लिखते है, उसी के समान उच्चारण भी करते हैं। इसमे स्वर और व्यञ्जन वे
चौंसठ चिह्न है। ह्रस्व तथा दीर्घ के पृथक्-पृथक् चिह्न वर्तमान हैं तथा मध्य म
स्थित चिह्न से स्वर-व्यञ्जन का मेल होता है। अ सभी व्यञ्जनो मे निहित तथ
अन्तर्वर्त्ती है। इस प्रकार ब्राह्मी वैज्ञानिक लिपि है, जिसमे एक क्रम है। इन सबल
प्रमाणों के सम्मुख सेमेटिक जैसी अनियमित और अवैज्ञानिक लिपि से ब्राह्मी क
उत्पत्ति कैसे मानी जा मानी जा सकती है।"[१] सेमेटिक और आरमइक मे सब-से
बडी कमी है कि उनमे ध्वनि के अनुरूप अक्षर नहीं हैं। दीर्घस्वर का नितांत
अभाव है। कहाँ वह और कहाँ ब्राह्मी। इस परिप्रेक्ष्य मे ब्राह्मी प्रभावक और
सामी प्रभाव्य हो सकती है।

जैन आचार्यों ने 'अ' वर्ण का "अकार चन्द्रकान्ताभ सर्वज्ञ सर्वहितकरम्'
कह कर जैसा महत्त्व प्रतिपादित किया है, अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।
उन्होंने उसे पुराण-पुरुषोत्तम 'आदि भगवान्' के समान कहा है और इसे अपने
बीजमन्त्र का आदि अक्षर कह कर दिव्य शक्ति का प्रतीक माना है। इसके उच्चारण
के साथ जो चित्र मन मे उभरता है, उससे बीजमन्त्र शक्ति-सम्पन्न बन पाता है।
जैन आचार्यों ने वर्णमातृका के इस आदि अक्षर 'अ', मध्य अक्षर 'र', अन्तिम अक्षर
'ह' और बिन्दु तथा नाद से जिस 'अर्हम्' बीजमन्त्र की रचना की है, वह
परमात्म रूप है परमसत्ता का प्रतीक है। उसमे पचपरमेष्ठी का निवास है। वह
नवकार मन्त्र के समूचे व्यक्तित्व को व्याप्त किये हुए है। मन्त्रों की रचना वर्णो

---

१. डॉ वासुदेव उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ 250.

से होती है। किन्तु यह मन्त्र समूची वर्णमाला का संक्षिप्त रूप तो है ही, योगियों के ध्यान का अनुभूत तत्त्व भी है। वह एक ओर द्रव्य लिपि को उजागर करता है, तो दूसरी ओर भावलिपि को भी केन्द्रित करता है। इसी कारण वह बीजमन्त्र है। रामसेनाचार्य-प्रणीत तत्त्वानुशासन मे लिखा है, "आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति। हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येय तदर्हताम् ?"[१] ॥ इसका अर्थ है कि –"अपने आदि, मध्य और अन्त मे (प्रयुक्त अ-र्-ह् अक्षरों-द्वारा) जो वाङ्मय को–वाणी या वर्णमाला को व्याप्त करता है, वह अर्हन्तों का वाचक 'अर्हम्' पद है। वह हृदय मे ऊँची उठती हुई ज्योति के रूप मे नामध्येय है।" सहस्र-सहस्र योगियों ने इस अक्षर ब्रह्म को अपने हृदय-स्थल मे ऊर्ध्व-ऊर्ध्व गमन करती ज्योति के रूप मे ध्यान का विषय बनाया है। उसको प्रणाम करते हुए एक आचार्य ने लिखा,

"अर्हमित्यक्षरब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ॥"[२]

अर्थ–परमेष्ठी के वाचक 'अर्हम्' इति अक्षरब्रह्म को सिद्धचक्र का सद्बीज भी बतलाया गया है। मैं उसे हर प्रकार से प्रणाम करता हूँ।

अर्हम् परमब्रह्म का वाचक है। इसमे 'अ' अक्षर अमृतमूर्त्ति के रूप मे स्थित सुख का प्रतीक है। स्फुरायमान रेफ अविकल रत्नत्रय रूप है, अर्थात् सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्रतिमूर्त्ति है। 'ह्' अक्षर मोह-युक्त समूचे पाप-समूह के हता रूप मे प्रतिष्ठित है, अर्थात् 'ह्' से समूचे पाप विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अभिन्नाक्षर पद के रूप मे यह बीजाक्षर स्मरणीय है। इस पद के अ और ह् अक्षरों के मध्य मे वर्णमाला के शेष सब अक्षर वास करते है। और इसी से मुनियो ने इसे अनघ शब्दब्रह्मात्मक बताया है। इसमे बिन्दु और नाद अर्धचन्द्रकला से युक्त सकिरण ज्योति पद के द्योतक हैं और 'म' अन्तर-ध्वनि को अभिव्यक्त करने वाला है। यह पूरा पद पर-ब्रह्म-सिद्ध परमात्मा के ध्यान की अनुभूति कराता है। अर्हम् के महत्त्व को योगशास्त्र में रहस्यमय निरूपित किया गया है। अर्हम् का यह विवेचन कुमार-कवि के आत्मप्रबोध मे मिलता है। उनके मूल श्लोक इस प्रकार है—

"अकारोऽयं साक्षादमृतमयमूर्त्तिः सुखयति।
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकलं संकलयति ॥
समोहं हंकारो दुरितनिवहं हंति सहसा।
स्मरेदेवं बीजाक्षरमभिन्नाक्षर पदम् ॥११८॥

---

१. तत्त्वानुशासन, जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, 1963 श्लोक 101, पृष्ठ 100.

२. देखिए वही, पृष्ठ 100

कथति वसंति मध्ये वर्णा अकार-हकारयो–
रिति यदनघं शब्दब्रह्माख्यं मुनयो जगुः ।
यदमृतकलां बिभ्रद्बिन्दूज्ज्वलां रचितार्चितं
ध्वनयति परंब्रह्म ध्यानं तदस्तु पदं मुदे ॥११९॥"

अकार से हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर हैं, वे अपने-अपने मण्डल को प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं और दोनों लोक के फलों को देने वाले हैं। यहाँ "अमन्त्रमक्षर नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्। अयोग्य पुरुष नास्ति, संयोजकस्तत्र दुर्लभ ॥" पूर्ण रूप से चरितार्थ हुआ है। यह सत्य है कि ऐसी कोई मूल (जड) नहीं, जो औषधि के काम न आती हो और कोई ऐसा अक्षर नहीं जो मन्त्र के रूप मे प्रतिष्ठित न हो सके। किन्तु, जिस प्रकार प्रत्येक मूल (जड) से औषधि का काम लेने वाला दुर्लभ है, उसी प्रकार प्रत्येक अक्षर की मन्त्र-रूप में योजना करने वाला भी दुर्लभ है। 'योजकस्तत्र दुर्लभ' ठीक ही है। इस सन्दर्भ मे मुनिश्री नथमल का एक कथन दृष्टव्य है, "एक कालिदास संस्कृत का कवि है और दूसरा अन्य कोई साधारण कवि। क्या अन्तर पडता है कालिदास मे और दूसरे मे। अन्तर कुछ नहीं है, सिर्फ वर्णों के विन्यास का होता है। जो शब्दों की योजना करने में समर्थ होता है, वह उनमें प्राण भर देता है। जो प्राण भरने मे निपुण नहीं होता, वह प्राण भरने के स्थान पर कभी-कभी प्राण हर भी लेता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि हमारे आचार्य और साधु ब्राह्मी लिपि के अक्षरों और वर्णों का सयोजन करने मे निपुण रहे है। उन्होंने सावधानता बरती है। यही कारण है कि हमारा वर्णविन्यास यदि एक ओर वैज्ञानिक बन पडा है, तो दूसरी ओर भाव रूप मे भी जप, सकल्प और मन्त्र को साध सका है और श्रीमद् भगवद्गीता के शब्दों मे सच्ची "ब्राह्मी स्थिति" तक पहुँच सका है।

उसी समय, एक दूसरी समुन्नत लिपि और थी। उसका नाम था खरोष्ठी। यह दाये से बाये लिखी जाती थी। इसके अवशेष एक ओर पश्चिमोत्तर प्रदेश से मथुरा तक, तो दूसरी ओर मध्य एशिया तक मिलते है। इसका प्राचीनतम पुरातात्त्विक लेख अशोक से तीन सौ ई पूर्व के एक शिलालेख मे प्राप्त हुआ है। मध्य एशिया से प्राप्त शिलालेख दो सौ ईसवी पूर्व के हैं। ग्रन्थ रूप मे इसका प्राचीन नमूना खोतान से मिली धम्मपद की हस्तलिखित प्रति है। प्राचीन जैन-ग्रन्थों–भगवतीसूत्र, आवश्यकचूर्णि, समवायांगसूत्र आदि मे अठारह लिपयों का विवेचन है। उनमे एक खरोष्ट्रिका है। मैंने

---

1 जागरिका, जैन विश्व भारती प्रकाशन, 1973, पृष्ठ 129.

अपने इस ग्रन्थ मे सिद्ध किया है कि खरोष्ठी विशुद्ध भारतीय लिपि थी। उसका आधार हैं—सम्राट वृषभदेव। उन्होंने अपनी पुत्रियों को बायें से दायें लिखना सिखाया तो दाये से बायें भी।

ब्राह्मी का निवास पश्चिम मे था और वह स्थान तथा लोक-रुचि का विशेष ध्यान रखती थी, ऐसा उसके जीवन से स्पष्ट ही है। हो सकता है कि उसने एक काम चलाऊ दैनिक लोक व्यवहार की लिपि के रूप मे खरोष्ठी को जन्म दिया हो। बूलर और ओझा-जैसे विद्वानों ने खरोष्ठी को ब्राह्मी से प्रभावित स्वीकार किया है। जहाँ तक खरोष्टी के नामकरण का सम्बन्ध है, खर+ओष्ठ (गधे का ओठ) जैसी व्युत्पत्ति, नितांत असंगत है। चीनी मान्यता कि इसका नाम किसी खरोष्ठ नाम के व्यक्ति पर रक्खा गया, सच प्रतीत होती है। मैंने वर्ण-विपर्यय के आधार पर वृषभोष्ठ > रिखबोष्ठ > खरोष्ठ स्वीकार किया है और उसके पीछे सम्राट ऋषभदेव की महत्त्वपूर्ण भूमिका का भी उल्लेख किया है। विद्वानों को यह नवीन-सा प्रतिभासित होगा, किन्तु जैन ग्रन्थों मे वह पहले से सुरक्षित है।

अक लिपि और गणित का जैसा समुन्नत विवेचन जैन ग्रन्थों मे प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। 'अकाना वामतो गति' का मूल साक्षी प्रमाण भी जैन ग्रन्थों मे ही मिलता है। ऋषभदेव ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को, जो दाहिनी ओर बैठी थी, अक लिपि की विद्या प्रदान की। वहाँ से ही वह दायें से बायीं ओर चली। अकों का जन्म और विकास भारत मे हुआ। भारत उनका जन्म स्थल है। ओझा आदि विद्वान् भारतीय मूल अकों पर विदेशी प्रभाव की बात नहीं मानते। उनका स्पष्ट अभिमत है, "प्राचीन शैली के भारतीय अक भारतीय आर्यों के स्वतन्त्र निर्माण किये हुए है।"[1] किन्तु उन्हें शून्य योजना के जन्मदाता का पता न चल सका, जिसने अकों को नवीन शैली प्रदान की। वैसे वे यह मानते है कि—"नवीन शैली के अकों की भी सृष्टि भारतवर्ष मे ही हुई, फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश योरप मे हुआ।"[2] शायद इस सन्दर्भ मे ओझा जी ने टोडरमल-रचित 'अर्थ सदृष्टि' नाम का ग्रन्थ न देखा होगा। इसमे उन्होंने ऋण-प्रतीक के लिए पाँच चिह्नों का प्रयोग बतलाया है, उनमे एक शून्य भी है। वहाँ उसका विशद विवेचन है। श्री लक्ष्मीचन्द जैन का अभिमत है कि—"अर्थ सदृष्टि सदृश ग्रन्थों के गहन अध्ययन से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधारों

---

१ प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ 110

२ देखिए वही, पृष्ठ 110.

को सुदृढ़ किया जा सकता है और भारत के उज्ज्वल अतीत पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है।"[१] अर्थ सदृष्टि प्राचीन ग्रन्थों पर आधृत एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

"प्राकृत को काम में लाने के कारण जैन और बौद्ध अंकलिपि के उद्भावक नहीं हो सकते।" बूलर का यह कथन कुछ अटपटा और तर्क-हीन सा लगता है। अक और उस पर आधृत गणित का समुन्नत रूप जैन प्राकृत ग्रन्थों मे ही सब-से-अधिक देखा जाता है। विद्वानों का कथन है कि इन प्राकृत ग्रन्थों में विवेचित गणित के आधार पर ही अनन्त, सलागागणन, कर्मबन्ध, द्रव्यक्षेत्रादि और मार्गणाओं का प्ररूपण किया जा सका। प्राकृत ग्रन्थों मे अविभाग प्रतिच्छेद को इकाई रूप मे लेकर यथार्थ अनन्तों का अल्प-बहुत्व सरचित किया गया है। जहाँ इटली मे जीनो (४६० ई० पूर्व) का विभाज्यता-सम्बन्धी तर्क और चीन के हुईथिह् (५ वीं सदी ई० पू०) का अक्षरभास अनन्त की गणना न कर सका, वहाँ जैन प्राकृत ग्रन्थों का गणित एक सिद्धान्त रूप मे प्ररूपित हुआ। स्पष्ट है कि यदि प्राकृत अकों के उद्भावन मे बाधक होती, तो उनका ऐसा विकसित रूप प्राकृत ग्रन्थो मे न मिलता। यदि महावीर का तीर्थकाल अपनी लोकोत्तर अवधारणाओं को लौकिक गणित के माध्यम से सिद्ध करने में समर्थ हुआ है, तो यह निश्चित है कि प्राकृत अक विकास के लिए वरदान थी, अभिशाप नहीं।

जैन ग्रन्थों मे लेख-सामग्री के प्रमाण बिखरे हुए है। मैंने उन्हें यथा सम्भव इस ग्रन्थ मे देने का प्रयास किया है। फिर भी, बहुत कुछ ऐसा रह गया है, जिसे मैं नहीं सजो सका हूँ, ऐसा मुझे विश्वास है। मुनिश्री नथमल के ग्रन्थ 'जैन दर्शन, मनन और मीमांसा'[२] मे 'पोत्थारा' के सम्बन्ध मे नये सन्दर्भो का उल्लेख हुआ है। उन्होंने लिखा है कि 'राजप्रश्नीय सूत्र' मे पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोंरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छदन (ढक्कन), सांकली, मषि और लेखनी की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना (पद?) मे पोत्थारा शब्द आता है, जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक विज्ञान-आर्य। इसी मे बताया गया है कि अर्द्धमागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते है। दशवैकालिक की हारिभद्रीया वृत्ति (पत्र २५) मे पाँच प्रकार की पुस्तकें बतलाई गई हैं—गण्डी, कच्छवी, मुष्टि, सपुटफलक और सृपाटिका। निशीथचूर्णि मे भी इनका उल्लेख है। अनुयोगद्वार का पोत्थकम्म (पुस्तक कर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ

---

१ भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 224-25

२ मुनिश्री नथमल, जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, परिवर्द्धित सस्करण, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, 1973, पृष्ठ 85

ताड़पत्र अथवा संपुटक पत्र-संचय और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र मे आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि.) के पोत्थार शब्द का भी यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला मे पढने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। यद्यपि भारतीय वाङ्मय—चाहे जैन हो, बौद्ध अथवा वैदिक एक लम्बे समय तक कण्ठस्थ परम्परा मे सुरक्षित रहा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम उस समय लिखना नहीं जानते थे। जलवायु की विषमताओं के कारण लेख-पत्र भले ही नष्ट हो गये हों, किन्तु ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व का पुरातात्त्विक प्रमाण मोहन-जो-दरो और हरप्पा की खुदाइयों में प्राप्त हुआ है। उस पर उत्कीर्ण लिपि, लिपि तो है ही, भले ही आज उसे पढने मे हमारे मध्य विवाद हो।

लिपि संस्कार के समय बालक के मुख से एक ऐसे मगल वाक्य का उच्चारण करवाया जाता था, जो आगे चल कर समूचे भारत की विरासत बना। वह वाक्य था—ओनामासी धम्म। संस्कृत में इसे 'ॐनमः सिद्धेभ्य'। कहते है। इसका अर्थ है—सिद्धों को नमस्कार हो। यह श्रमण परम्परा का प्राचीन मन्त्र वाक्य है। तीर्थंकर महावीर के पहले से चले आये चौदह पूर्वों में-से एक पूर्व था विद्यानुवाद[1]-मन्त्र विद्या का सशक्त ग्रन्थ। उसमे यह मन्त्र निबद्ध था। इसके उच्चारण से बालक का विद्याध्ययन निर्विघ्न पूरा होता था, ऐसी मान्यता थी। इसका प्रचलन केवल जैनों मे ही नहीं, अपितु भारत के सभी सम्प्रदायों मे था। श्रमण और ब्राह्मण के सघर्ष के होते हुए भी यह वाक्य बिना किसी भेदभाव के चलता रहा। वह सार्वभौम बन सका, ऐसी उसमे क्षमता थी। भावात्मक एकता के लिए ऐसे सूत्रवाक्यों का अपना एक पृथक् महत्त्व होता है। यह प्रश्न उठाना कि यह सूत्र मूलत. श्रमणों का था अथवा ब्राह्मणों का और श्रमणों मे भी जैनों का था अथवा बौद्धों का, एक व्यर्थ की बात है। वह सब का बन सका और लिपि संस्कार के समय बालक के द्वारा उसका उच्चारण मगल माना गया, इतना ही पर्याप्त है। किन्तु, ऐसे प्रश्न उठे अवश्य होंगे, तभी तो यह पवित्र सूत्र भी आगे चल कर विद्वेष और विकृति का शिकार बना।

एक दूसरा वाक्य है—'कक्का रीतु केवलिया'। यह महाजनी मुण्डिया लिपि के बहीखातो मे आज भी लिखा जाता है। कक्का बारहखड़ी का द्योतक है और 'केवलिया' केवली भगवान्, अर्थात् केवलज्ञान के धारक अर्हन्त का प्रतीक

१ कहा जाता है कि मुनि सुकुमारसेन (7 वी सदी ईसवी) के विद्यानुशासन मे, विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का सकलन हुआ है। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्र भण्डारो में मौजूद है।

है। ये दोनों ही शब्द स्पष्ट रूप से जैन परम्परा के हैं और वहाँ से ही चले। बहीखातों का सम्बन्ध अकलिपि से है। बीच-बीच मे अक्षर-लिपि का भी प्रयोग करना पड़ता है। बहीखातों मे लोगों के खाते आज भी वर्णानुक्रम से ही डालने का रिवाज है। बारहखडी के वर्णों के आधार पर जैन आचार्यों ने बड़े-बड़े आध्यात्मिक ग्रन्थों का निर्माण किया था। अ से ह तक के वर्णों मे-से एक-एक को लेकर श्लोकों की सतत रचना करते जाना जैन आचार्यों की अपनी शैली थी। मैंने जयपुर के भण्डारों मे प० दौलतराम कासलीवाल का एक बृहत् काय हस्तलिखित ग्रन्थ—'अध्यात्म बारहखडी' देखा था। इस ग्रन्थ मे बारहखडी के एक-एक वर्ण को लेकर अनेकानेक आध्यात्म परक पद्यों की रचना की गई है। यह हिन्दी का एक सरस ग्रन्थ है। ऐसे-ही-ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जो अपने हस्तलिखित रूप मे भण्डारों में पडे हैं। उनका सम्पादन और प्रकाशन होना ही चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा अपने प्राचीन काल से ही ब्राह्मीलिपि और वर्णमातृका की परम भक्त रही है। उसके अंग-प्रत्यग मे इसके उद्धरण बिखरे हुए है। बात प्रामाणिक है। वर्ण और अक्षरों का जैसा सैद्धान्तिक, तात्त्विक और भाषा वैज्ञानिक विवेचन जैन ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं। वर्णमातृका के चरणों मे जैन मनीषियों की यह विनम्र श्रद्धाञ्जलि ही है।

जैनाचार्यों ने शब्दातीत की स्थिति, अचिंतन की भूमिका और निर्विचार की कोटि तक पहुँचने को निर्विकल्प तक पहुँचना कहा है। इसे वे मौन की सही स्थिति मानते हैं और इसे ही वाक्सवर अथवा वाक्सयम कहते है। किन्तु वे एक दूसरी बात और कहते है कि जो व्यक्ति वचन-शून्य है, वह निर्वचन तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार शब्द-शून्य शब्दातीत तक, वाक-शून्य निर्वाक् तक, चिन्तन शून्य अचिंतन तक और विचार रहित निर्विचार तक पहुँचने मे असमर्थ है। इस प्रकार वे शब्द, वाक्, चिन्तन और विचार को भी समरूप से महत्त्वपूर्ण मानते है। वर्णों से शब्द बनते है और शब्दों से वाक्य, वाक् या वचन। भाषा वर्गणा और शब्द पर जैन-ग्रन्थों मे गहराई से विचार किया गया है।

जैन दार्शनिको के अनुसार शब्द पौद्गलिक है, आकाशीय नही, जैसा कि कणाद आदि कतिपय नैय्यायिक मानते है। सांख्यदर्शन उसे आकाश का जनक कहता है। मीमासक उसे नित्य मानते है, आकाश की भाँति उसकी सर्वत्र, सवदा सत्ता है, जब व्यञ्जक निमित्त मिलते है, तब वह हमारे श्रवण मे आता है, अन्यथा नहीं। भर्तृहरि के अनुसार समस्त विश्व शब्दमय है। जैनाचार्य उसे भाषा वर्गणा के पुद्गलों का पर्याय कहते हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक होता है, अत शब्द भी मूर्तिक है। रूप, रस, गंध और स्पर्श—ये सभी पुद्गल धर्म उसमे विद्यमान हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने शब्द की उत्पत्ति, शीघ्रगति और लोक-व्यापित्व आदि पहलुओं पर भी पूरा प्रकाश डाला है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे लिखा है कि सुघोषा घण्टा का शब्द असख्य योजन की दूरी पर स्थित घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है। यह उस समय की बात है, जबकि रेडियो, वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। शब्द क्षण-मात्र मे लोक-व्यापी बन जाता है।

शब्द पुद्गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा, शब्द और नोभाषा शब्द आदि अनेक भेद हैं। बोलने के पूर्व, वक्ता भाषा परमाणुओं को ग्रहण करता है, फिर भाषा के रूप मे उनका परिणमन करता हुआ अन्त मे उत्सर्जन करता है।[1] ग्रहण और उत्सर्जन मे केवल एक समय का व्यवधान होता है। जीव गृहीत भाषा-द्रव्यों को धारण करके रख नहीं सकता। जिस समय मे ग्रहण करता है, उसके दूसरे ही समय मे निसर्ग करना होता है। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश मे फैलते हैं। बाहर निकले शब्दों का वेग इतना तीव्र होता है कि एक ही समय मे वे लोक के अन्त तक जा पहुँचते है। बिजली की तरह लपलपाती शब्दों की तीव्रगति आज ध्वनि यन्त्रों पर साक्षात् की जा सकती है।

शब्द मे पदार्थ की बोधक शक्ति निसर्गज होती है, अर्थात् प्रत्येक शब्द विश्व के समस्त पदार्थों का प्रतिपादन करने मे समर्थ है। घट शब्द जैसे कलश का वाचक है, वैसे ही वह वस्त्र, पुस्तक, टोपी आदि का भी वाचक हो सकता है, किन्तु मनुष्य ने शब्द की इस वाचक शक्ति को सकेत के द्वारा सीमित कर दिया है। अत सकेत प्रणाली के द्वारा ही शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है। नैय्यायिक शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति को नही मानते। किन्तु, सहज बोधक शक्ति के अभाव मे सकेत भी नहीं टिक सकेगा। सकेत के बिना शब्द अर्थ को तो बता सकेगा, किन्तु किस अर्थ को बताये, यह मालूम न हो पायेगा। अमुक शब्द अमुक अर्थ का वाचक है, यह निर्धारण सकेत के द्वारा होगा, किन्तु उसमे अर्थावबोधन की शक्ति तो पहले से चाहिए। सकेत एक रूढि-मत्र है। वह एक प्रणाली है। उसमे व्यापकत्व नही है। फिर भी, वाचक और वाच्य का सम्बन्ध बनाने मे सकेत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

शब्द की अर्थावबोधन की व्यापक सामर्थ्य को यदि सकेत-द्वारा नियत न किया गया तो वह वक्ता के अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादक न होकर, श्रोता की इच्छानुसार किसी भी अर्थ का वाचक बन जायेगा। इस प्रकार शब्द प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट

---

१ जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, पृ 181

हो जायेगा। कहा जायेगा गौ लाने को और वह ले आयेगा शकरकन्द, कहा जायेगा सिन्दूर लाने को और वह ले आयेगा जरदा। ऐसी अव्यवस्थित दशा मे भाषा उद्देश्यहीन बन कर रह जायेगी।

एक दूसरा प्रश्न है कि शब्द अपने अर्थ से भिन्न है या अभिन्न। यदि सर्वथा भिन्न होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता था। "वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचक पर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्य पर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथञ्चिद् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है।[1]" वाचक बोध कराने की पर्याय मे होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय मे। वास्तविकता यह है कि शब्द वही है, जो अर्थवान हो। अर्थ के बिना शब्द 'स्थाणुरय भारहार'—जैसा है। इसी को भर्तृहरि ने अपनी दार्शनिक भाषा मे कहा है कि अर्थब्रह्म के बिना शब्दब्रह्म की कोई सत्ता नहीं है। शब्द और अर्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसी को वाक्यपदीयम् (२।३१) मे "एकस्यैवात्मनौ भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।" कहा गया है। कालिदास ने कुमारसम्भव मे वाक् और अर्थ को सपृक्त मानते हुए हर और पार्वती के समान कहा है। महात्मा तुलसीदास ने वाक् और अर्थ को जल और तरग के समान कहते हुए लिखा है, "गिरा-अरथ जल-वीचि सम कहिअत भिन्न-न-भिन्न[2]।" जल-वीचि की बात पुष्पदन्त और स्वयम्भू ने पहले ही लिखी थी।

आज, जब तेजी से बदलते इस युग के जीवन मूल्यों मे सतुलन रख पाना कठिन हो गया हो, तब मै अतीत की गहराइयों मे डूबा रहूँ, सम्भव न था। सम्भव हुआ एक वीतरागी साधु की निष्काम प्रेरणा और सतत मगलवर्षा से। कार्य आसान नहीं था। बज्रमणि मे छेद करने-जैसा ही था। मुझे तो ऐसा ही लगा। अनवरत श्रम तो आवश्यक था ही, किन्तु सतत निष्ठा और एकाग्रता के बिना तो कुछ हो ही न पाता। मेरी कुटिया मे निष्ठा का दीप जलता रहा और जलता रहा। किसी राग-द्वेष अथवा माया-मोह का प्रभञ्जन उसे चुका न सका। तो, मैं उस स्नेह का आभारी हूँ, जिसने इस दीप की बत्ती को, धीमे-धीमे ही सही, मन्द-मन्द ही सही जलने दिया। वह स्नेह था एक श्रमण साधु का, जो मुझे एक आशीर्वाद के रूप मे मिला था। स्नेह—दिव्य स्नेह, राग-रहित, मोह-रहित। जैन ग्रन्थों की साधना

---

१ जैन दर्शन, मनन और मीमांसा, पृष्ठ 607

२ रामचरित मानस बालकाण्ड 18

बिना इस स्नेह के सम्भव नहीं है। निष्ठा चाहिए, कोरा श्रम व्यर्थ है। मुझे जहाँ से निष्ठा मिली, उन्हीं चरणों में यह ग्रन्थ समर्पित है।

मैं उन आचार्यों, सूरियों और ग्रन्थकारों का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनकी बौद्धिक सम्पत्ति मुझे विरासत के रूप मे मिली। उनकी जलाई ज्योति न होती तो मैं कुछ देख ही न पाता। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इंदौर, भाई बाबूलालजी पाटौदी और डा. नेमीचन्द जैन के लिए क्या लिखू, वे अपने ही है। उनके पत्रों से मुझे उत्साह मिला है और मैं उमगित मन से इस ग्रन्थ को पूरा कर सका हूँ। उनके प्रति आभारी हूँ। श्री माणिकचन्द जी पाण्या के स्नेह से ही मै ग्रन्थ-प्रकाशन के अन्तिम क्षणों मे इन्दौर पहुँच सका, सुविधा-पूर्वक ग्रन्थ देख सका, उनका कृतज्ञ हूँ—अतीव कृतज्ञ।

मैंने जो कुछ लिखा है, बम्मी देवी के चरणों मे लघु विनत श्रद्धाञ्जलि है। यदि विद्वानों को रुचिकर हुई, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूगा।

—डॉ. प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष एव रीडर
हिन्दी विभाग

श्रुत पञ्चमी
वी. नि. स. २५०१

विश्व की मूल लिपि ब्राह्मी

लिपि : व्युत्पत्ति और विश्लेषण

लिपि और लिपिकार

लिपि शब्द 'लिप् उपदेहे' से लिप् धातु मे, 'इक् कृष्यादिभ्य' इति इक् प्रत्यय के लगाने से बनता है।[१] लिप् धातु लेपने, लीपने या पोतने के अर्थ मे आती है। जैसे काष्ठादिफलक पर चिकनी मुलतानी मिट्टी का लेपन करना। ओठो पर माजिष्ठ (मजीठ) का लेपन भी लिपि कहलाता है—"लिपि लेपन द्रव्यम्, ओष्ठ रञ्जिका माजिष्ठी लिपिरोष्ठयो।" इसी कारण 'लिप्यते इति लिपि:' कहा जाता है। जैन ग्रन्थो मे काष्ठफलकादि को सुधा प्रभृति द्रव्यो से लीपने की बात कही गई है।[२]

लिपि शब्द केवल लीपने या पोतने के अर्थ मे ही नही, अपितु लिखने के अर्थ मे भी आता है। मेदिनीकोश के रचयिता ने 'लेखा लिपि' लिख कर लेखन कर्म को लिपि माना है।[3] लेखा शब्द 'लिख्' धातु से बना है और लिख् धातु 'लिख विलखने' से विलखन् अर्थ मे आती है। विलखन का अर्थ है एन्ग्रेवेशन अर्थात् खोदना या छेदना। वह धातुपत्र पर हो, काष्ठ फलक पर हो, पत्थर पर हो, सूती कपडे पर हो या किसी और पर, खोदना या छेदना ही कहलायेगा। ईसा से छठी शताब्दी पूर्व के सिंहली आगमो में लेखन को 'छिन्दति लिखति' कहा गया है।[४] विनयपिटक मे एक स्थान पर बौद्ध-भिक्षुओ के लिए नियम खोदने की बात लिखी है।[५] जैनो मे मूर्ति लेख अत्यधिक प्राचीन है। मोहन-जो-दरो मे ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति पर 'जिनाय नम' खुदा हुआ है। इस छेदने या खोदने के काम मे छैनी, हथौडा और कील का प्रयोग होता था। प्राचीन ग्रन्थो मे इन साधनों का भी उल्लेख हुआ है। कालान्तर मे हल से भूमि-विदारण को भी विलखन कहने लगे, जैसा कि 'लेखन भूमिदारण' से सिद्ध है।

---

१ 'लिप्यत इति लिपि'—अमरकोष २/८/१६ 'लिप् उपदेहे'—जु उ अ, इति धातो, 'इक् कृष्यादिभ्य'—वार्तिक ३/३/१०८ इति इक् प्रत्यय।

२ "पूर्वस्मिन् युगे काष्ठफलकादिकं सुधाप्रभृतिद्रव्यैरुपलिप्य अंगुलिभिर्नखैर्वा अक्षराणामाकृतिर्विधीयते स्मेति प्रतीयते।" देखिए भगवतीसूत्र, सस्कृत व्याख्या

३ मेदिनीकोश, 'ख' ४

४ विनयपिटक, ओल्डेनबर्ग सम्पादित, १/२४ और 'सेक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट', १०/२१

५ देखिए वही.

देवताओ को भी लेख कहते हैं, शायद इस कारण कि घर-द्वारो पर रेखाकृतियो से देवताओ के चित्र बनाने की प्राचीन प्रथा है। इसी कारण उन्हें रेख अथवा लेख सज्ञा से अभिहित किया गया है। यहाँ पर भी देवताओ के चित्र उत्कीर्ण करने की बात है। अर्थात् चित्र खोदने के अर्थ मे भी लिख् धातु आती थी।[१]

अमर कोषकार ने 'लिखिताक्षर विन्यास' को लिपि कहा है। उसका कथन है—"लिखिताक्षर विन्यासे लिपिर्लिबिरुभे स्त्रियौ"। इसका समास विग्रह है—'लिखित चाक्षरविन्यासश्च, अनयो समाहार., तस्मिन्।'[२] इसका अर्थ है—लिखित हो और अक्षर विन्यास हो, उसमे स्त्रीलिगवाची लिपि अथवा लिबि होती है। उच्चारण भेद से लिपि को लिबि कहते हैं। लिखित—अर्थात् लिखित हो—अर्थात् खुदा हुआ या छिन्दित हो। क्या हो? अक्षर विन्यास—अक्षरो की आकृति। इसका अर्थ हुआ कि खुदी हुई अक्षरो की आकृति। खुदा हुआ अर्थ लिख् धातु से निकला है, अत. यदि यह कहा जाये कि लिखे हुए अक्षरो की आकृति को लिपि कहते हैं, तो अन्यथा न होगा। किन्तु प्रश्न तो यह है कि खुदे हुए अथवा लिखे हुए अक्षर विन्यास मे 'लिपि लिप्यते' वाली बात कैसे घटित हुई। यदि घटित नही होती तो उसका लीपना-पोतना अर्थ व्यर्थ हो जाता है। किन्तु, प्राचीन ग्रन्थो से विदित है कि जिस वस्तु पर भी अक्षर विन्यास होता था, उसे पहले लीपा-पोता अथवा पालिश की जाती थी। एलबरूनी का कथन है कि भोज पत्र पर पहले पालिश की जाती थी फिर उस पर लिखा जाता था।[३] ताड़पत्र को भी मुलायम पत्थर अथवा शख से रगड़ कर लिखने के पूर्व चिकना कर लिया जाता था।[४] इसी भाँति सूती कपड़े पर पालिश करने का रिवाज था।[५] पत्थर को भी पहले मुलायम किया जाता था, फिर उस पर पालिश होती थो, तदुपरि अक्षर-विन्यास छैनो-हथौड़े, कील या अन्य किसी वस्तु से किया जाता था।[६] जैन-ग्रन्थो मे लिखा है—"पूर्वस्मिन युगे काष्ठ-फलकादिक सुधाप्रभृतिद्रव्यैरुपलिप्य अगुलिभिर्नखैर्वा अक्षराणामाकृतिर्वाविधीयते स्म।"[७] इसका अर्थ है—पहले समय मे काष्ठफलक आदि पर, सुधा प्रभृति द्रव्यो से लेपन कर, अगुली अथवा नाखूनो से अक्षर विधान किया जाता था।

---

१. "लेख देव। लेख कस्मात्? पुरा हि अनुमता विख्याना देवाना विग्रहात्मिका रूपवर्णरचना भित्तिषु लिखित्वैव क्रियते स्मेति लेख। अद्यापि विवाहादिकौतुकावसरे द्वारभित्तिषु परम्परा-त्वेन गणेशगौरीविष्णुगजहयस्वस्तिकादीना पाण्डुकर्गैरिकादिभिर्लेखन विधीयते।"
'लेखर्षभोऽनिल' जिनसहस्रनाम १०८, श्रुतसागरी व्याख्या और
'लेखो लेख्ये सुरे', मेदिनीकोश, 'ख'–४

२. अमरकोष २/८/१६.

३. इण्डिया, १.१७१, (सचाऊ)

४. राजेन्द्रलाल मित्र, गाफ पेपर्स, पृष्ठ १४

५. देखिए मैसूर और कुर्ग गजेटियर—१८७७, १–४०८

६. इण्डियन पेलियोग्राफी, डॉ. राजबली पाण्डेय, भाग १, पृष्ठ ७७

७. देखिए भगवती सूत्र—सस्कृत व्याख्या.

इस प्रकार लिपि और लेख पर्यायवाची थे । पाणिनीय अष्टाध्यायी मे लिपि शब्द का प्रयोग हुआ है । डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है, "पाणिनि ने ग्रन्थ, लिपिकर, यवनानी लिपि और गौओ के कानो पर सख्यावाची चिन्ह अकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है । ये सब लिपि-ज्ञान के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण है ।"[१] पाणिनि ने अपने सूत्र ३/२/२१ मे लिपि का दूसरा उच्चारण लिबि भी स्वीकार किया है । कौटिल्य के अर्थ शास्त्र (१/५) मे लिपि शब्द आया है । वहाँ साकेतिक लिपि को सज्ञालिपि कहा गया है ।[२]

ईरानी सम्राट दारा प्रथम के बहिस्तून अभिलेख मे उत्कीर्ण लेख को दिवि कहा गया है । लिपि और दिवि मे लिपि और लिबि की भाँति उच्चारण भेद हो सकता है, किन्तु इस आधार पर यह अनुमान कर लेना कि–"लिपि और दिपि का मूल सम्भवत. प्राचीन ईरानी दिपि से है और ये शब्द ईसा-पूर्व ५०० मे पजाब पर दारा के आक्रमण से पूर्व भारत मे न पहुँचे होगे । दिपि ही बाद मे लिपि हो गई ।"[3] ठीक नही है । वेद और अवेस्ता मे शब्द साम्य है । उच्चारण भेद से शब्दो मे अन्तर आया है । इसका अर्थ यह तो नही है कि अवेस्ता से वेद अथवा वेद से अवेस्ता मे शब्द-ग्रहण हुआ है । सस्कृत और फारसी भी 'Allied Languages' थी । अत. लिपि और दिपि का मूल एक हो सकता है, किन्तु लिप से दिपि अथवा दिपि से लिपि शब्द बना या हो गया, कहना उपयुक्त नही है ।[४] ब्यूलर का यह कथन भी सारगर्भित प्रतीत नही होता कि भारतीय महाकाव्यो और बौद्ध आगमो मे लिख, लेख, लेखक और लेखन का प्रयोग अधिक है, लिपि का कम, क्योकि वह विदेशी शब्द है ।[५] एक शब्द के अनेक पर्यायवाचियो मे कोई अधिक चल पड़ता है और कोई कम, किन्तु इस आधार पर कम चलने वाले का मूल विदेशी मान लेना युक्तिसगत नही है । जैसे चन्द्रमा के अनेक पर्यायवाची हैं, किन्तु चन्द्र या चन्द्रमा जितना प्रचलित

---

१ डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, प्र स०, वि स २०१२, वाराणसी ५/२/३०६.

२ कौटिल्य, अर्थशास्त्र १/७.

३ ब्यूलर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र, मगलनाथसिह–अनुवादित, वाराणसी, पृष्ठ १२

4. "The origin of the term 'divira' seems to be in the word 'diPikara' (a writer or Engraver) used in the Asokan Edicts. 'Dipikara' could Easily be Prakritised into 'divikara—divira, It is likely that 'dipikara' and 'divir' were derived from the same common source, as sanskrit and ancient Persian were allied languages."

डॉ राजबली पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृष्ठ ६१.

५ ब्यूलर, भारतीयपुरालिपि शास्त्र, पृष्ठ १०

हुआ, अन्य नहीं। तो, उन पर अन्यथा कल्पना नही की जा सकती। यह तो प्रचलित हो जाने की बात है। उसमें जन प्रवृत्ति ही अधिक सहायक है, जो सुगमता और सुकरता अधिक चाहती है। लिपिकर से लेखक सुगम है और सुकर। उसके अधिक प्रचलन मे यह भाषा वैज्ञानिक कारण बहुत कुछ सम्भाव्य है।

लिपि और लेख के समान ही लिपिकर और लेखक भी पर्यायवाची है। लिपि को उच्चारण भेद से लिबि कहते है,[1] उसी प्रकार लिपिकर को लिबिकर। दोनो ही शब्द पाणिनीय अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त हुए है। एक शब्द और है–दिपिकर, यह दिपि से बना है। दिपि और लिपि एक ही अर्थ मे आते है। दिपि विदेशी शब्द है। इस पर अभी विचार हो चुका है। सम्राट अशोक के शिलालेखो मे लिपि और दिपि दोनो का प्रयोग हुआ है। जहाँ उनके ब्रह्मगिरि और गिरनार के अभिलेखो मे लिपिकर शब्द मिलता है, वहाँ शाहबाजगढ़ी के १४वे लेख मे दिपिकर शब्द प्रयुक्त हुआ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "मौर्य युग मे लिपि शब्द लेखन के लिए प्रयुक्त होता था। अशोक ने अपने स्तम्भ लेख और शिलालेखो को धम्मलिपि या धम्मदिपि कहा है। लघु शिलालेख स० २ मे लेख खोदने वाले को लिपिकर कहा गया है।"[2] आगे चल कर सातवी आठवी शताब्दी के वल्लभी के शिलालेखो मे दिविर या दिवीर शब्द का प्रयोग हुआ है। डॉ० ब्लूलर के अनुसार यह शब्द फारसी के देवीर से बना है, जिसका अर्थ होता है–लेखक। ये सासानी शासनकाल मे पश्चिमी भारत मे बस गये थे।[3] शायद ऐसा ईरान और भारत के बीच व्यापारिक सम्बन्धो के बढने के कारण हुआ हो। राजतरगिणी मे दिविर शब्द का प्रयोग हुआ है। क्षेमेन्द्र के लोक प्रकाश मे गजदिविर (बाजार लेखक), ग्राम दिविर, नगर दिविर आदि अनेक भेद मिलते है। मध्यकाल मे दिविरपति शब्द का उल्लेख मिलता है। दिविरपति सधिविग्रह कृत–सधि और युद्ध के मत्री को कहते थे। डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है, ""In a large number of vallabhı ınscrıptıons of the Seventh and eıghtth Centurıes A D, the mınıster of Allıance and war (Sandhı-Vıgrahadhıkrta), who was responsıble for the preparatıon of the draft of documnts, ıs Called 'dıvırpatı'

---

१. 'कि निपिलिबि' (३/२/२१) इति लिङ्गात् पस्य बो वा। 'लिबि' सौत्रो धातु –इति मुकुट। अमरकोष २/८/१६

२ डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, ५/२/३०६

३ भारतीयप्राचीनलिपिमाला, ब्लूलर, पृ २०७

which means the lord of diviras."[1] इसका स्पष्ट अर्थ है कि बहुत से लेखक इस दिविरपति–विग्रह और संधि मंत्री के नीचे ड्राफ्ट्स और डोक्यूमेन्ट्स तैयार करते थे। ऐसे लेखको को राज लिपिकर भी कहते थे। सांची के शिलालेख मे 'सुबिहित गोतीपुत्त'–को राजलिपिकर कहा गया है।[2]

अशोक के शिलालेखो से ऐसा लगता है कि लेखक शब्द, उस समय तक लिखने और उत्कीर्ण करने दोनो अर्थों मे आता था, किन्तु आगे चल कर ये दो पृथक्-पृथक् काम हो गये। लेखक केवल लिखने का काम करता था और शिल्पी उन्हें पत्थरो अथवा ताम्र पत्रो आदि पर खोदने का काम करते थे। इस सन्दर्भ मे ब्यूलर का कथन दृष्टव्य है, "जैसा कि अभिलेखो के अन्तिम अशो से विदित होता है कि परम्परा यह थी कि पत्थर पर खोदे जाने के लिए प्रशस्तियाँ अथवा काव्य पेशेवर लेखको को दिये जाते थे। ये उसकी स्वच्छ प्रति तैयार करते थे। इस प्रति के आधार पर ही कारीगर (सूत्रधार, शिलाकट, रूपकार या शिल्पिन्) पत्थरो पर प्रलेख खोद देते थे।"[3] इण्डिया एपिग्राफिका XVI २०८ मे शिल्पिन् के लिए वीनाणि शब्द के प्रयोग की बात कही गई है। वीनाणि का अर्थ है वैज्ञानिक। अर्थात् शिल्पी वैज्ञानिक कहा जाता था। कलिंग मे इसे ही अक्षशालिन् अथवा अश्मशालिन् कहते थे।[4] कारीगरो के रूप मे अयस्कर, कण्सर (कसेरा), संगतराश और हेमकार का भी उल्लेख मिलता है।[5]

पेशेवर लेखको मे कायस्थ प्रमुख थे। पहले इनकी कोई जाति नहीं थी। भिन्न-भिन्न वर्णों के लोग राज्य के आफिसो मे लेखक (क्लर्क) का काम करने के लिए आते थे। आगे चल कर इनकी एक जाति बन गई। वह एक सम्मिश्रित जाति थी।[6] ब्राह्मण ग्रन्थो का कथन है कि उनमे शूद्र रक्त अधिक है, किन्तु राजाओ और मंत्रियो के सम्पर्क मे रहने के कारण उनका स्थान ऊँचा था।[7] शायद इसी कारण उनके द्वारा पीडित प्रजा की रक्षा की बात याज्ञवल्क्य स्मृति मे आई है, "कायस्था लेखका गणकाश्च तै पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्।

---

१ डॉ राजबली पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ ६१

२ एपिग्राफिया इण्डिका, II, १०२

३ ब्यूलर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ २०८

४ इण्डियन एण्टीक्वेरी, १३ वाँ भाग, पृ १२३

५. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ २०९, पादटिप्पण

६. डॉ वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, वाराणसी, १९६१, पृ २५६.

७ [illegible] II [illegible] (आजेय) और [illegible] XIII I ८८

तेषा राजबल्लभतयातिमायविस्वाच्च दुर्निवारत्त्वात् ।"[1] इससे स्पष्ट है कि वे राज-प्रिय तो थे ही, अतिमायावित् भी थे, अर्थात् माया रचने मे निपुण थे । उनके समूचे आदर्श और सिद्धान्त अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए थे । वे अपने अतिरिक्त और किसी का भला नही देख पाते थे । वे अत्यधिक स्वार्थी थे । कायस्थ शब्द की व्युत्पत्ति--काये स्थित से भी यही स्पष्ट होता है कि वे अपनी काया मे ही स्थिर रहते थे, अर्थात् अपने स्वार्थो में निमग्न रहते थे ।

कायस्थ का सबसे पहला उल्लेख 'विष्णुधर्म सूत्र' मे मिलता है--"राजाधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृत तदध्यक्षकरचिह्नित राजसाक्षिकम् ।"[2] दूसरा उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति मे आया है, जिसमे कायस्थो से प्रजा को विशेषरूप से रक्षित करने की बात है--"चाट तस्कर दुर्वृत्त महासाहसकादिभि, पीडयमाना. प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषत ।[3]" बुद्ध गुप्त के समय (ई० स० ४७६-४९५) के एक ताम्रपात्र के लेख मे उल्लेख है कि--"कायस्थो का प्रमुख जिला परिषद् का सदस्य था ।"[4] अभिलेखो मे राजस्थान का 'काणस्व अभिलेख' (ई० स० ७३८-३९) पहला है, जिसमे कायस्थ शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है ।[5] गुजरात[6] और कलिंग[7] के अभिलेखो मे इनका प्राय नाम मिलता है । कल्हण की राजतरंगिणी और क्षेमेन्द्र के लोकप्रकाश मे भी इनका एकाधिक बार नामोल्लेख हुआ है ।

लेखक के अन्य नाम भी थे, जैसे-करण, करणिक, करणिन्, शासनिक और धर्मलेखिन् । करण कायस्थ का पर्यायवाची था । यह भी एक वर्णसकर जाति थी ।[8] याज्ञवल्क्य स्मृति मे इसे वैश्य पिता और शूद्रा मा की सन्तान माना है, "वैश्यात्तु करणः शूद्राया विन्नास्वेष विधि· स्मृत· ।"[9] इन सबका काम वही था जो कायस्थ किया करते थे । प्राय इन्हे राजाज्ञापत्रो और कानूनी दस्तावेजो को तैयार करना होता था । इनका उल्लेख मध्ययुग के चेदि और चदेलो के

---

१ मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति, I, ३६६

२. विष्णुधर्मसूत्र, ७वाँ अध्याय, ३ रा श्लोक-

३ याज्ञवल्क्यस्मृति, १/३६६

४ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १५, पृ १३८

५. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १९, पृ ५५.

६ वही, भाग ६, पृ १९२

७ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ २२४.

८. डॉ. राजबली पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ. ९३.

९. याज्ञवल्क्यस्मृति, १/९२.

लेखो मे मिलता है । वहाँ यह भी लिखा है कि वे सुन्दर अक्षर लिखते थे । अपने सुन्दर अक्षरो के कारण उन्हें गौड देश से मध्यदेश अथवा राजपूताना मे निमन्त्रित किया जाता था। उन्हे संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान होता था, अत शुद्ध भी लिखते थे।[1] एक जगह लिखा है—

> ''संस्कृत भाषा विदुषा जयगुण पुत्रेण
> कौतुका लिखिता रुचिराक्षरा
> प्रशस्ति. कारणिक जह्वेन गौडेन ॥''[2]

सुन्दर अक्षर लिखने के सन्दर्भ मे कायस्थो का भी उल्लेख आता है। बगाल के गौड कायस्थ इस कार्य मे निपुण थे। उन्हे भारत के विभिन्न भागो मे निमन्त्रित किया जाता था। खुजराहो के लेख (१० वी सदी), मध्य प्रदेश की कलचुरि प्रशस्ति तथा मारवाड से प्राप्त चाहमान लेखो मे कायस्थ की प्रशसा की गई है, क्योकि वह राजकीय पत्रो को सुन्दर व ललित अक्षरो मे लिखता था। अमरकोषकार ने 'लिपिकरोऽक्षरचणोऽक्षरचुञ्चुश्च लेखके'[3] सूत्र मे अक्षरचण और अक्षरचुञ्चु को लेखक और लिपिकर के पर्यायवाचियो मे देकर कहना चाहा है कि लेखक को सुन्दर अक्षरो का धनी होना ही चाहिये। कायस्थ सुलेखक थे। इण्डिया एपिग्राफिका मे कायस्थ के लेख को कहीं पर 'अखिल दखिल वर्ण व्यक्त पक्ति प्रशस्य'[4] और कही 'स्फुट ललित निवेशैरक्षरैस्ताम्र-पट्टम्' कहा गया है।[5]

जैन मन्दिरो और भण्डारो मे भी ऐसे लेखकों को नियुक्त किया जाता था। वहाँ वे धर्मग्रन्थो की प्रतिलिपि किया करते थे। किन्तु सत्य यह है कि जैन ग्रन्थो की अधिकाश प्रतिलिपियाँ जैन साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाओ के द्वारा तैयार की गई। उन्होने ब्राह्मण पण्डितो से भी यह कार्य सम्पन्न करवाया। कायस्थ और करणिको के प्रति उनके हृदय मे कही-न-कही शूद्र वाला भाव अवश्य ही सन्निहित था। ब्लूलर के इस कथन मे—'कभी-कभी जैन साध्वियाँ भी प्रतिलिपि का काम करती थीं'—कभी-कभी ठीक नही है।[6] उन्होने यह कार्य बहुत किया, ऐसा हस्तलिखित ग्रथों की प्रशस्तियो से विदित

---

१ डॉ. वासुदेवसिंह, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृ २४७

२ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, पृ १२६.

३ अमरकोष, २/८/१५.

४ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १४, पृ १६५

५ वही, पृ. १४

६. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ. २०६.

है। डॉ० राजबली पाण्डेय का यह कथन Jain Mss were copied by monks and nuns who spent their time in preparing the Mss of sacred texts."[1] नितान्त सत्य है और तथ्यों पर आधृत है। जो प्रतिलिपियाँ कायस्थ लेखकों के द्वारा की गई हैं, उनमें भद्दी भूले हैं। कही-कही ऐसा गजब हुआ है कि आज विद्वानो के लिए उनका परिहार दुरूह प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि मे कायस्थ लेखको को सस्कृत-प्राकृत का सुष्ठु ज्ञान नहीं था। ब्राह्मण पण्डितो की प्रतिलिपियो मे ऐसी आशुद्धियाँ नही हैं।

अक्षर–

'अक्षर बिन्यास' का अर्थ है–अक्षरो की बनावट या लिखावट। इसके पर्यायवाची हैं–अक्षर लिपि, वर्ण विन्यास, अक्षर सस्थान, अक्षरौटी और अक्षर लेख आदि। इनमे अक्षर मुख्य हैं। 'अथ किमिदमक्षरमिति', अर्थात् यह अक्षर क्या है? इस प्रकार का प्रश्न भाष्यकार ने उठाया था। श्लोक वार्तिक नाम के जैन ग्रथ मे एक सूत्र है–अक्षर न क्षरं विद्यात्। इसका अर्थ है, जिसका नाश न हो, वह अक्षर है। अक्षर शब्द क्षर धातु से बना है और 'क्षर सचलने' (म्वा० प० से०)। पचाद्यच (३।१।१३४)। यद्वा-अश्नुते। 'अशू व्याप्तौ' (स्वा० आ० सं०)। 'अशे सर' (उ० ३/७०)। इस दृष्टि से अक्षर की व्युत्पत्ति हुई– 'न क्षरतीति अक्षरम्'। अर्थात् जिसका क्षरण न हो–सचलन न हो–चलायमानता न हो, वह अक्षर है। ऐसी बात या तो लब्ध्यक्षर मे होती है अथवा फिर केवलज्ञान मे ही। दोनो ही हानि-वृद्धि रहित हैं, अर्थात् दोनो ही नाश हुए बिना एक रूप से रहते हैं। दोनो ही निरावरण हैं। लब्ध्यक्षर-सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जघन्य ज्ञान को कहते है। और केवलज्ञान तीर्थंकर अथवा किसी भी साधक के सर्वोत्तम ज्ञान को कहते हैं। यह मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से उत्पन्न होता है। इसे पाकर जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा हो जाता है। लब्ध्यक्षर ज्ञान केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग है, किन्तु है वही, अत दोनो को ही अक्षर सज्ञा प्राप्त है। केवलज्ञान का अर्थ है मोक्ष, परमात्मपद, परब्रह्म आदि। अनेकार्थ कोष मे–"मोक्षेऽ पवर्गे ओं ब्रह्मण्यच्युतेऽक्षरम्।" कहा गया है। नानार्थ रत्नमाला मे –"अक्षर प्रणवे धर्मे प्रकृतौ तपसि क्रतौ। वर्णे मोक्षे च, ना त्वेष शिवविष्णु-विरञ्चिषु। मृगादान बौद्धेषु।"[2] लिखा है।

---

१ डॉ पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ ६०.

२. अमरकोष—'अक्षर तु मोक्षेऽपि' की सस्कृत व्याख्या, ३/३/१८२

उस अक्षर रूप परमात्मा को अभिव्यक्त करने वाले स्वर, व्यञ्जन, ध्वनि और ध्वनि संकेत निमित्त रूप होते हैं, अत उन्हे भी अक्षर कहते हैं, नन्दिकेश्वर काशिका मे लिखा है—

"अकार सर्व वर्णाग्र्य प्रकाश परमः शिव : ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥"[१]

इसका अर्थ है कि अकार अर्थात् 'अ' यह अक्षर समस्त वर्णो मे प्रथम है। यह शास्त्रादि की रूपात्मकता का जनक होने से प्रकाश रूप है, परम है, शिव है। इस प्रथमाक्षर अ तथा अतिम अक्षर ह के सयोग से 'अह' सिद्ध होता है और अह का अर्थ है–आत्मब्रह्म। अत यह 'अक्षरसमाम्नाय' साभिप्राय है–परमात्म बोधक है। इसी अर्थ का द्योतक एक श्लोक आचार्य जिनसेन के आदि पुराण मे सुनिबद्ध है—

"अकारादिहकारान्तरेफमध्यान्तबिन्दुकम् ।
ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥"[२]

अर्थ—आद्य अ और अन्त्य ह के सयोग से अह सिद्ध होता है। इसके मध्य मे रेफ तथा मस्तक पर बिन्दु लगाने से अर्हं पद बनता है। यह अर्हं परमबीज मत्र है। इस परम बीज मत्र का ध्याता योगी मुक्त्यभिलाषी होता है और कभी अवसाद को प्राप्त नही होता, अर्थात् मुक्ति पा ही लेता है।

ऐसा ही एक श्लोक श्लोकवार्तिक मे भी आया है—

"वर्णज्ञाने वाग् विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लब्ध्वर्थं चोपदिश्यते ॥"[3]

अर्थात् यह वर्णज्ञान वाक् का विषय है, जिसमे ब्रह्म का निवास है। अकार से हकार-पर्यन्त अक्षरवाणी का वर्णात्मक लौकिक सघटन है, सारा ससार इन अ-हात्मक अक्षरो से सम्बोधित किया जाता है। समस्त लोक को इस प्रकार अपने वर्णकुण्डल मे परिवेष्टित करने वाली कुण्डलिनी का विषय सहस्रार मे स्थित परम शिव ही है, जिसे ब्रह्म कहते हैं– इस प्रकार वाक् में ब्रह्म की स्थिति है। जब कोई जीव परमात्मा को सम्बोधित करता है, तब उसे ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर आदि कहने के लिए वाक् का ही आश्रय लेना होता है। इष्ट का ज्ञान भी वाक् से ही होता है, इस हेतु से वर्णज्ञान (अक्षर विषयक परामर्श) उचित ही है।

---

१ नन्दिकेश्वरकाशिका, ४

२ आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, २१/२३१.

3 देखिए श्लोकवार्तिक.

आचार्य सिद्धसेन ने "कल्याण मंदिरस्तोत्र' में विरोधाभास के माध्यम से भगवान् की स्तुति करते हुए एक पंक्ति मे लिखा है, "किं वाक्षरं प्रकृतिरप्य-लिपिस्त्वमीश।"[1] इसका अर्थ है कि हे ईश! आप अक्षर प्रकृति होकर भी अलिपि-अर्थात् लिपि रहित हैं। जब अक्षररूप हैं तो लिपि रूप हैं, फिर लिपि रहित कैसे हो गये? समाधान है कि आप अक्षर रूप हैं, अर्थात् अविनाशी हैं और लिपि-रहित का अर्थ है—लेपरहित हैं—कर्मलेपरहित हैं। अथवा, अलिपि का अर्थ है कि आप लिपि के घेरे मे नही समा पाते। लिपि ससीम है और आप असीम हैं। अतः लिपि द्वारा कही गई स्तुति आपके सम्पूर्ण को कहने में असमर्थ है।

जैनधर्म का सविकल्पध्यान वर्णाकृतिमूलक होता है, अर्थात् उसमे वर्णों के आकार को आधार बनाकर ध्यान किया जाता है। धर्म्यध्यान का एक उपभेद है—पदस्थ ध्यान। इसमें एक या अनेक अक्षरो से बने मत्रो ॐ, ह्री, ह, णमो अरिहन्ताण, अ सि आ उ सा आदि का अथवा इनके वाच्य परमात्म तत्व का एकाग्र चिन्तवन किया जाता है। इसके अनेक भेदों मे से एक भेद का नाम है—'अक्षर मातृका ध्यान'। इसमें माना गया है कि नाभिकमल, हृदय कमल और मुख कमल पर चक्राकार घूमते हुए स्वर और व्यञ्जनों पर मन केन्द्रित करने से परमात्म पद प्राप्त होता है।[2] प्रतिष्ठासारोद्धार मे 'णमो-अरिहन्ताण' को ब्रह्मार्हं का प्रतीक माना है, यहाँ तक कि उसे शब्द ब्रह्म की सज्ञा दी है। उसकी इन्द्रादिदेव आराधना करते है। वह श्लोक है—

"दृक् शुद्धयाविसमिद्धशक्ति परम ब्रह्म प्रकाशोद्धुरं,
शब्दब्रह्मशरीरमीरित विपद्यन् मूलमन्त्राबिभि ।
इन्द्राद्यैरभिराध्यते तदमितो दीप्ताग्निः स क्ष्मासने,
न्यस्यार्चामि सुभुक्तिमुक्तिदमहं ब्रह्मार्हमित्यक्षरम् ॥"[3]

अर्थ—ब्रह्मार्हं का तात्पर्य है कि अरहन्त परमेष्ठी ब्रह्म है और वे अक्षरात्मक हैं, अर्थात् शाश्वतिक है—क्षरतीतिक्षर पुद्गल द्रव्य तद्भिन्नमक्षरात्मा शाश्वतिक। शाश्वतिक का अर्थ है—अविनश्वर। वे अर्हं स्वरूप परमात्मा सम्यग्दर्शनादि

---

१. "विश्वेश्वरोऽपि जनपालक दुर्गतस्त्व,
किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञान त्वयि स्फुरति विश्वविकामहेतु ॥"
—कल्याणमन्दिर स्तोत्र, ३० वां श्लोक

२. ज्ञा. प्र ३८, श्लोक २–६, उ. १, २.

३ प्रतिष्ठासारोद्धार, ३/३.

दृक् शुद्धि से अतिशय शक्तिमान् हैं, परब्रह्म हैं और अमित प्रकाशमय हैं। मूल मंत्र णमोकार आदि में, अखिल क्लेशों को हरने वाले उसी ब्रह्मार्हं का, शब्द ब्रह्मात्मक शरीर है। चारो ओर से उस प्रदीप्त अग्निमय देव की इन्द्रादि आराधना करते हैं। उन भुक्ति-मुक्ति के दाता सर्वेश्वर की, क्ष्मापीठ पर विराजमान कर मैं अर्चना करता हूँ।

योगवासिष्ठ में योगियों के ध्यान को लिपिकर्मार्पिताकार कहा है। ऐसा किये बिना वे अन्तस्थ मन से चिंतन नही कर सकते थे। उसमे लिखा है–

"लिपिकर्मार्पिताकारा ध्यानासक्तधियश्चते।
अन्तस्थेनैव मनसा चिन्तयामासुरादृता ॥"[1]

इसका अर्थ है–वे 'लिपिकर्म आकार' मे अपने को अर्पित किये हुए, ध्यानासक्त बुद्धि होकर, अन्तस्थ मन से, आदर-पूर्वक चिन्तन करने लगे।

जिस प्रकार अक्षर आत्मब्रह्म का प्रतीक है और निमित्त-नैमित्तिक भाव से उसे भी आत्मब्रह्म कहा जाता है, उसी प्रकार अक्षर, ज्ञान का प्रतीक है। जैन ग्रन्थो मे अक्षर को श्रुतज्ञान कहा है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जो लब्ध्यक्षरात्मक ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञान मति-ज्ञान पूर्वक होता है। गोम्मटसार जीव काण्ड मे एक गाथा है–

"सुहमणिगोद अपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धि अक्खरयं ॥"[2]

इसका अर्थ है–सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय मे स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान-पूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुत ज्ञान होता है।

इसकी व्याख्या-स्वरूप कहा जा सकता है कि लब्धि का अर्थ प्राप्ति है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति ही वास्तविक प्राप्ति है। अन्य प्राप्तियाँ परपदार्थात्मक होने से भ्रमोत्पादक हैं। वे स्वप्राप्ति से भिन्न हैं, अत उनका क्षय करना ही वाछनीय है। लब्धि तो आत्मलब्धि ही है। उस लब्धि का साधन श्रुतज्ञान है। वह श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है। एक ओर तो अक्षर कभी क्षर न होने के कारण परमात्मा का वाचक है, दूसरी ओर श्रुत का साधनभूत अग है। शास्त्र बिना अक्षर के ज्ञानोपदेश मे समर्थ नही हो सकते। अत' श्रुत के ज्ञान प्रबन्ध के उपदेष्टा शब्द भी अक्षरात्मक हैं और उनसे ज्ञेय आत्मा भी अक्षर (अविनश्वर) है। उस ज्ञान की परासीमा (सर्वज्ञत्व स्थिति) तीर्थंकरो में होती है तथा ज्ञान के अविभाज्य परमाणु सम्मित अत्यन्त

---

१. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति. ८६।३७

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जे. एल. जैनी सम्पादित, ३२२, पृ. १८६.

अल्पज्ञान की स्थिति सूक्ष्म निगोदिया जीव मे होती है, अर्थात् तीर्थंकर सर्वज्ञ होने से ज्ञान के चरमोत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार निगोदिया जीव ज्ञान के अत्यारम्भिक उन्मेषमात्र को प्राप्त होते हैं।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान मे केवल इतना अतर है कि केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यो मे और द्रव्यो की सब पर्यायो मे होती है, जबकि श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यो मे तो होती है किन्तु उसकी कुछ ही पर्यायो मे होती है। केवलज्ञान प्रत्यक्ष और पूर्ण विशदज्ञान है, जबकि श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है। परोक्ष इसलिए कि अपने मानस पर प्रत्यक्ष करने के लिए उसे चिन्तन का सहारा लेना होता है। इसके अतिरिक्त केवलज्ञान ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म प्रकृतियो के क्षय से होता है और श्रुतज्ञान क्षयोपशम से, अर्थात् एक क्षायिक है और दूसरा क्षायोपशमिक, किन्तु दोनो ज्ञान हैं और दोनो का सम्बन्ध आत्मोपलब्धि से है।

षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणासूत्र मे एक शका उपस्थित की गई है कि जब अक्षर श्रुतज्ञान का साधनभूत है, तब उसे श्रुत सज्ञा से अभिहित क्यो किया गया? समाधान है कि कारण मे कार्य के उपचार से ऐसा हुआ है।[1] इस प्रकार अक्षर को उपचार से श्रुतज्ञान की सज्ञा दी गई है। प्रवचनसार की एक गाथा मे भी यह ही भाव अभिव्यक्त किया गया है। वह गाथा है—

> "सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
> तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया॥"[2]

भगवान जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित श्रुत पुद्गल द्रव्यात्मक है। एतावता पौद्गलिक वचन भी भागवत ज्ञान के प्रति–ज्ञप्ति के प्रति साधनभूत है। उन शब्दो से ज्ञप्ति ही शेष रहती है। यह शब्दात्मक शास्त्र ज्ञेय ज्ञान के फलितार्थ का साधक होने से उपचार से ज्ञान कहा जाता है, जैसे-अन्नप्राणा.—अन्न प्राण है, ऐसा व्यवहार मे कहा जाता है, क्योकि अन्न प्राण-धारण मे सहकारी है, परन्तु तत्त्वत ऐसा नही है। यदि अन्न सर्वथा प्राणात्मक होता नो अन्नोपलब्धि-पर्यन्त प्राणो का नाश नही होना चाहिए।

श्रुतज्ञान का श्रुत शब्द पुराना है। वेदो की ऋचाओ को श्रुति कहते है। वेदो के बाद, वैदिक परम्परा मे श्रुति शब्द का व्यवहार नही हुआ। जैन आचार्यों ने समस्त प्राचीन शास्त्रो को श्रुत कहा और यह शब्द आज भी प्रचलित है। कही किसी सीमा पर रुका नही। श्रुत का अर्थ है—सुना हुआ। यह एक यौगिक शब्द है। तदनुरूप ही सुन-सुन कर जिस ज्ञान को सुरक्षित रक्खा गया, उसे शास्त्र की संज्ञा

१. सत्प्ररूपणासूत्र, पं कैलाशचन्द्र सम्पादित, वाराणसी–५, पृ० १२०.
२. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, मारोठ (राज०), श्लोक ३४ वां, पृ० ३६.

प्राप्त हुई। आचाराग आदि सूत्र 'सुयं मे'—जैसे वाक्यो से प्रारम्भ होते हैं · यह मौखिक परम्परा—सुन-सुन कर याद रखना—शताब्दियो तक चलती रही। इसका अर्थ यह नही है कि प्राचीन आचार्यों को लिखना नहीं आता था। इसके विपरीत, वे प्रत्येक अक्षर और शब्द के उच्चारण—ह्रस्व, दीर्घ, लुप्त और काना-मात्रा आदि के प्रति इतने सतर्क थे कि उनमे यत्किञ्चित् परिवर्तन भी उन्हें सह्य नही था। शास्त्र-लेखन के प्रति उदासीनता का कारण था—जैन श्रमणों की चर्या, साधना और परिस्थिति। उसमे अहिंसा एव अपरिग्रह मुख्य थे, और शास्त्र लेखन मे हिंसा तथा परिग्रह की सभावना थी। शायद इसी कारण बृहत्कल्प नामक छेद सूत्र मे स्पष्ट विधान है कि पुस्तक पास मे रखने वाला श्रमण प्रायश्चित् का भागी होता है।[1]

श्रुतज्ञान के दो मुख्य भेद है—अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत। अक्षरश्रुत मे विविध भाषाएँ, लिपियाँ और सकेत समाविष्ट हैं। 'बृहत् जैन शब्दार्णव' मे अक्षर-श्रुत के सम्बन्ध मे लिखा है, "वह ज्ञान जो कम-से-कम एक अक्षर-सम्बन्धी हो और अधिक-से-अधिक श्रुत ज्ञान के समस्त अक्षरो से पूर्ण हो।"[2] पूर्ण अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के दो भेद है—अगप्रविष्ट और अगबाह्य। इसमे अङ्ग-प्रविष्ट के आचारांग आदि बारह भेद हैं और अगबाह्य के अनेक। सर्वार्थसिद्धि मे एक शका उठाई गई है—आचाराग आदि भाषात्मक शास्त्र हैं, फिर वे श्रुतज्ञान के भेद कैसे हो गये? उत्तर देते हुए आचार्य ने लिखा है कि—मोक्ष के लिए इन शास्त्रो का अभ्यास विशेष उपयोगी है, इसलिए कारण मे कार्य का उपचार करके भाषात्मक शास्त्रो को ही श्रुतज्ञान मे गिना दिया है।[3] इसका तात्पर्य है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का और भाषात्मक शास्त्रो का अन्योन्य सम्बन्ध है। अनक्षरश्रुत मे श्रूयमाण अव्यक्त ध्वनियो तथा दृश्यमान शारीरिक चेष्टाओ का समावेश किया जाता है। अव्यक्त ध्वनियाँ तथा चेष्टाएँ भी बोध का निमित्त बनती हैं। इस प्रकार कराह, चीत्कार, नि श्वास, खकार, खाँसी, छीक आदि बोधनिमित्त सकेत अक्षर-श्रुत मे समाविष्ट हैं।[4]

ध्वनि व्यक्त हो या अव्यक्त—सुनाई देनी चाहिए। यदि सुनाई नही देती तो वह श्रुत मे शमिल नहीं की जा सकती। व्यक्त ध्वनि वर्णात्मक होने से अक्षरश्रुत कहलायेगी और भेर्यादि की ध्वनि अव्यक्त होने से अनक्षर श्रुत रूप होगी। न्याय शास्त्र मे लिखा है—"श्रोत्रग्राह्योगुण. शब्द·। स द्विविध। ध्वन्यात्मको वर्णा-

---

१ जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ८

२ 'बृहत् जैन शब्दार्णव' पृष्ठ ४१, और गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३३३, पृ० १९३

३ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि—देखिए 'श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्' १/२० की सस्कृत व्याख्या

४. जैन साहित्य का बृहत इतिहास, भाग १, पृष्ठ १४

स्वरूपश्च । तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मक प्राकृत-सस्कृत भाषादिरूपः ।"[1] इसका अर्थ है कि श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला गुण शब्दात्मक है। वह ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दो प्रकार का है। शख, भेरी आदि का शब्द ध्वन्यात्मक तथा प्राकृत-सस्कृत आदि भाषागत शब्द वर्णात्मक है। ध्वनि अस्फुटाक्षर होती है। वर्ण अक्षरात्मकता ग्रहण कर ध्वनि को स्पष्टता प्रदान करते हैं।

प्रश्न है शारीरिक चेष्टाओ का—वे श्रुत की कोटि मे आती है या नही ? उपर्युक्त परिच्छेद मे कहा जा चुका है कि वे चेष्टाएँ जो दृश्यमान है, अनक्षर श्रुत मे आती है। साकेतिक भाषा के अतिरिक्त साकेतिक चेष्टाएँ भी श्रुत का विषय हैं। किन्तु, प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य[2] मे शारीरिक चेष्टाओ को श्रुत का विषय नही माना है। उनके अनुसार जो सुनने योग्य है, वही श्रुत है, अन्य नही। शारीरिक चेष्टाएँ सुनाई नही देती, अत उन्हें श्रुत नही कहा जा सकता। इसका अर्थ हुआ कि क्षमाश्रमण श्रुत शब्द को यौगिक मानते हैं, किन्तु भट्टाकलंक के तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे—"श्रुत शब्दोऽयम् रूढ़िशब्दः इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्त्वसिद्धिर्भवति।"[3] अर्थात् श्रुत शब्द रूढ शब्द हैं और श्रुत ज्ञान मे किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है। आचार्य उमास्वामी ने 'श्रुत मतिपूर्व' दिया है।[4] तो फिर, दृश्यमान शारीरिक चेष्टा भी मतिज्ञानपूर्वक हो सकती है और इस कारण उसे श्रुतज्ञान की कोटि मे गिना जाना चाहिए।

गोम्मटसार जीवकाण्ड मे श्रुतज्ञान के तीसरे भेद अक्षर ज्ञान को तीन प्रकार का बतलाया गया है-लब्ध्यक्षर, निर्वृत्ति अक्षर और स्थापना अक्षर। इनमे-से लब्ध्यक्षर के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है। मुख से उत्पन्न किसी भी स्वर या व्यञ्जनादि को, जो मूल वर्ण या सयोगी वर्ण हो निर्वृत्ति अक्षर कहते हैं। किसी भी देश या काल की प्रवृत्ति के अनुकूल, किसी भी प्रकार की लिपि मे लिखित किसी भी अक्षर को स्थापना अक्षर कहते है। गोम्मटसार जीवकाण्ड मे ही, अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का भली-भाँति विश्लेषण करने के लिए बीस भेद किये गये हैं। जिनमे—से प्रथम दो पर्यायज्ञान और पर्याय समासज्ञान अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं और अवशिष्ट अठारह अक्षरात्मक के।[5] उनमे एक अक्षर ज्ञान है और दूसरा अक्षर समास ज्ञान। अक्षर ज्ञान वह है जो केवल एक मूलाक्षर अथवा सयोगी अक्षर से सम्बन्धित हो, इसी को अर्थाक्षरज्ञान भी कहते हैं। यह पर्याय

---

१. देखिए जैन न्याय और सिद्धान्त ग्रन्थ

२ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ५०३, पृष्ठ २७५

३. भट्टाकलक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/२० सूत्र की अकलक-कृत वार्तिक.

४ उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र, १/२० और षट्खण्डागम—सत्प्ररूपणासूत्र, वाराणसी-५, पृष्ठ १२०.

५ गोम्मटसार जीवकाण्ड, जे एल जैनी सम्पादित, लखनऊ, गा. ३१७, ३१८, ३४८, ३४९

समास ज्ञान के उत्कृष्ट भेद से अनन्तगुणा है।[1] अक्षर समास ज्ञान वह ज्ञान है जो कम-से-कम दो अक्षरो का और अधिक-से-अधिक एक मध्यम पद से एक अक्षर कम का हो। एक मध्यम पद मे १६३४८३०७८८८ अक्षर होते है।[2] यहाँ एक शका है—क्या एक पद मे उक्त अक्षरो का पाया जाना सभव है? समाधान है-मध्यम पद के ये अक्षर विभक्ति या अर्थबोध की प्रधानता से नही बतलाये गये है, किन्तु बारह अगरूप द्रव्य-श्रुत मे-से प्रत्येक के अक्षरो की गणना करने के लिए मध्यम पद का यह प्रमाण मान लिया गया है। अक्षर ज्ञान एक अक्षर का होता है— और अक्षर समास दो अक्षर से प्रारम्भ होता है।[3] सस्कृत काव्यो मे एकाक्षर श्लोक रचना प्राप्त होती है, जो भारतीय भाषाओ की समृद्धि की द्योतक है। महाकवि भारवि का एक श्लोक है—

"न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्न नुत् ॥१५।१४॥[4]

अर्थ—हे विविधमुख प्रमथगणो! यह क्षुद्र विचारवान पुरुष नही है, अपितु न्यूनता को समूल नष्ट करने वाला कोई देवता है। विदित होता है कि इसका कोई स्वामी भी है। बाणो से आहत होकर भी यह अनाहत प्रतीत होता है। अत्यन्त व्यथित को और व्यथित करना सदोष होता है, इस दोष से भी यह मुक्त है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' मे एकाक्षरी भाषा का उल्लेख है। वहाँ द द द=दया, दान और दमन के लिए आया है। जैन ग्रथो मे भी हा, मा एकाक्षरो से दण्ड दिया जाता था। सस्कृत भाषा मे आज भी अ=ब्रह्मा-प्रजापति, क=जल-सुख, ख=आकाश, च=और, न=नही, भ=नक्षत्र, र=अग्नि, ल=स्वर्ग, ह=वाक्य पूरण और वा=विकल्प के लिए प्रयुक्त होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'स्तुतिविद्या' मे भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए एकाक्षरी श्लोक का प्रयोग किया है—

"ततोतिता तु तेतीत स्तोतृ तोती तितोतृतः।
ततोऽतातिततोतोते ततता तेत तोततः॥"[5]

अर्थ—हे भगवान्! आपने विज्ञान वृद्धि की प्राप्ति को रोकने वाले इन ज्ञानावरणादि कर्मों से अपनी विशेष रक्षा की है, अर्थात् केवलज्ञानादि विशेष

---

१. वही, गा ३३३, पृ १९३.
२ 'बृहत् जैन शब्दार्णव', पृ ४०
३. 'तत्त्वार्थसूत्र', प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री विवेचित, वाराणसी-५, पृ ४०
४. भारवि, किरातार्जुनीयम्, १५/१४
५ स्तुतिविद्या, १३ वां श्लोक, पृ. १६.

गुणों को प्राप्त किया है। तथा आप परिग्रह-रहित स्वतंत्र हैं। इसलिए पूज्य और सुरक्षित हैं। आपने ज्ञानावरणादि कर्मों के विस्तृत-अनादिकालिक सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है, अत आपकी विशालता-प्रभुता स्पष्ट है—आप तीनो लोको के स्वामी हैं।

भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' मे एकाक्षरी, द्वयक्षरी, त्र्यक्षरी और चतुरक्षरी आदि दोहों का प्रयोग किया है। उनमे-से एकाक्षरी का उद्धरण है—

"नानी नानी नान में, नानी नानी नान।
नन नानी नन नानतं नन नैना नन नान ॥"[1]

आचार्य समन्तभद्र ने नमिजिन की स्तुति मे द्वयक्षरी, त्र्यक्षरी आदि श्लोको की रचना की है। आचार्य समन्तभद्र दार्शनिक और तार्किक थे, तो उत्तमकोटि के साहित्यकार और भक्त भी। भक्ति साहित्य की तो उन्होने धारा ही प्रवाहित की है। उनकी 'द्वयक्षरी श्लोक' मे की गई स्तुति है—

"नमेमान नमामेन मान मान नमा नमा।
मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥"[2]

अर्थ—हे नेमिनाथ ! आप अपरिमेय हैं—हमारे जैसे अल्पज्ञानियों के द्वारा आपका वास्तविक रूप नही समझा जाता। आप सब के स्वामी है। आपका ज्ञान सब जीवो को प्रबोध करने वाला है। आप किसी से उसकी इच्छा के विरुद्ध नमस्कार नही कराते। आप वीतराग है और मोह-रहित हैं, अत आपको सदाकाल नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता हुआ आपका स्तुति करता हूँ। प्रभो ! मेरा—मुझ शरणागत का—भी ध्यान रखिए—मै आपके समान पूर्णज्ञानी तथा मोह-रहित होना चाहता हूँ।

भैय्या भगवतीदास ने एक द्वयक्षरी दोहे मे कहा है कि जैनो को जैन नय अवश्य जानने चाहिये। वह दोहा इस प्रकार है—

"जैनी जाने जैन नै, जिन जिन जानी जैन।
जे जे जैनी जैन जन, जानै निज निज नैन ॥"[3]

अर्थ—जैन वह है जो जैन शास्त्रोक्त नयो को जानता है और जिन्होने उन नयो को नही जाना, उनकी जय नही होती, अत जो जो जैन धर्म के दास हैं उन्हे अपने-अपने नयो को जानना ही चाहिए।

---

१ भैय्या भगवतीदास, ब्रह्मविलास, पृ २७१

२. 'स्तुतिविद्या', मुख्त्यार-सम्पादित, सरसावा, ६४ वां श्लोक, प ११५

३. 'ब्रह्मविलास' १५ वां दोहा, प २८१

वर्ण—

'वर्ण्यते य स वर्ण· ।' 'वर्ण प्रेरणे' (चु प से) घञ् (३/३/१९ भावे) पाणिनि· । वर्ण प्रेरणा अर्थ में आता है । उसके आगे घञ् प्रत्यय लगाने से 'वर्ण ' निष्पन्न होता है । वर्ण भावो और विचारो को प्रेरणा देते हैं, अत उसका प्रेरणा अर्थ सार्थक ही है । यदि वर्ण को अच् प्रत्यय से सम्पन्न माना जाये (३/१/१३४) तो व्युत्पत्ति होगी– वर्णयतीति वर्ण ।

वर्ण के अनेक अर्थ होते है । अमरकोष मे लिखा है, "वर्णा स्यु ब्राह्मणादय ।"[१] यहाँ ब्राह्मणादि का अर्थ है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । मेदनी कोश मे वर्ण शब्द–"वर्णो द्विजादि–शुक्लादि यज्ञे गुणकथासु च । स्तुतौना न स्त्रिया भेद-रूपाक्षरविलेपने ।।"[२] अर्थो मे आया है । हेमकोश के अनुसार वर्ण शब्द—"वर्ण स्वर्णे व्रते स्तुतौ । रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायामक्षरे गुणे । भेदे गीतक्रमे चित्रे यशस्तालविशेषयो । अगरागे च वर्णं तु कुकुमे ।"[3] अर्थों मे माना गया है । इस सब के आधार से स्पष्ट है कि जब कोई भाव, विचार अथवा चेतन-रूप वस्तु , किसी प्रकार का निश्चित रूप या आकार ग्रहण करता है, तो उसे वर्ण कहते हैं । जब आदि प्रजापति ऋषभदेव और उनके चक्रवर्ती पुत्र भरत ने कर्मानुसार मानवो को चार जातियो मे विभक्त किया, तो इसका अर्थ था कि उन्हे एक निश्चित रूप दिया । शायद इसी कारण उन्हे वर्ण कहा गया । भेद-प्रभेदो का अर्थ ही एक निश्चित रूप अथवा आकार निर्धारित करना है । फिर वह आकार चाहे मानवो का हो, चाहे यज्ञो का, चाहे रगो का, चाहे गीतों का, चाहे स्तुतियो का और चाहे अक्षरो का, उन्हे वर्ण सज्ञा से ही अभिहित किया जायेगा ।

अ, क, ख, ग को जब लिपि-रूप प्राप्त हुआ, तब उन्हें वर्ण कहा जाने लगा । किसी विषय विशेष का निरूपण करना वर्णन है और वर्ण उसकी साधन-सामग्री है । अक्षरात्मिका वाक् वर्णमयी है । अक्षरो का आकृति भेद से परिचय करना ही वर्ण-रचना का विषय है । पाणिनि शिक्षा ३ मे एक स्थान पर लिखा है–"त्रिष-ष्टिश्चतु षष्टिर्वावर्णा शम्भुभते मता । प्राकृते सस्कृते चापि स्वय प्रोक्ता: स्वयम्भुवा ।" यहाँ 'प्रोक्त' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । उच्चारण-जन्य अक्षर प्रोक्त होता है । अत वर्ण का अर्थ वह आकृतिमान स्फोट है, जिसे स्वयम्भू ने त्रिषष्टि अथवा चतु षष्टि सख्या मे आबद्ध किया है ।

---

१ अमरकोष, २/७/१, पृ ३२४

२ मेदिनीकोश, ६३/४६

३. हैमकोश, २/१५३–१५५.

'सरस्वती कण्ठाभरण' मे धारापति भोजदेव ने 'ध्वनिवर्णा:पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् । यस्या: सूक्ष्मादि भेदेन--' लिखते हुए वर्ण को वाणी का द्वितीय चरण माना है।[१] यह वर्ण ध्वनि से स्थूल है तथा पदवाक्यरचना का आधार है। ध्वनि अस्फुटाक्षर होती है और वर्ण अक्षरात्मकता ग्रहण कर ध्वनि को स्पष्टता प्रदान करते हैं। जैसे सस्कृत की सख्यावाची ध्वनियो को वर्ण एकम्, द्वे, त्रीणि, चत्वारि, पच, षट्, सप्त, अष्ट, नव आदि आकार देकर स्पष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार अग्रेजी की सख्यावाची ध्वनियो को ए, टू, थ्री, फॉर, फाइव, सिक्स आदि आकार वर्ण ही देते है। इसी प्रकार भगवान् की दिव्यध्वनि ने भी वर्णों के माध्यम से ही स्पष्टता प्राप्त की थी। उसे निरक्षरी मानना उपयुक्त नही है। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे लिखा है—

"देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहितिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ।।"[२]

अर्थ—किसी-किसी की मान्यता है कि भगवान् की दिव्यध्वनि देवो के द्वारा की जाती है, किन्तु उनका वैसा कथन असत् है। यदि देवकृत मानी जाय तो दिव्यध्वनि देवगुण कहलायेगी, भगवत् गुण नही। इसके अतिरिक्त, दिव्य ध्वनि साक्षर-अक्षर रूप होती है, क्योकि अक्षरो के समूह के बिना अर्थ का परिज्ञान नही होता।

अक्षर समूह को 'अक्षरसमाम्नाय' अथवा 'वर्ण समाम्नाय' कहते हैं। कातन्त्र व्याकरण मे 'वर्ण समाम्नाय' का विवेचन है।[३] शम्भु के मतानुसार 'वर्ण समाम्नाय' मे त्रेसठ अथवा चौंसठ वर्ण माने जाते हैं।[४] गोम्मटसार जीवकाण्ड मे लिखा है, "तेत्तीस वेंजणाइ, सत्तावीसा सरा तहा भणिया। चत्तारि य जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ ।।"[५] अर्थात् ३३ व्यञ्जन, २७ स्वर (९ ह्रस्व, ९ दीर्घ, ९ प्लुत) और चार योगवाह (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपपध्मानीय) मिलकर ६४ मूलवर्ण होते हैं। भगवती आराधना में भी इन्ही मूलवर्णों का विवेचन हुआ है।[६] ये ६४ मूलवर्ण प्राकृत वर्णमाला के हैं। सस्कृत भाषा की अक्षरमाला मे ३३ व्यञ्जन, २२ स्वर (५ ह्रस्व, ८ दीर्घ और ९ प्लुत), ४ योगवाह और ४ युग्माक्षर (यम)—कुल ६३ मूलाक्षर

---

१ देखिए धारापति भोजदेव का सरस्वतीकण्ठाभरण

२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, २३/७३.

३ 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय ' भावसेनकृत कातन्त्रव्याकरण, २

४ पाणिनिशिक्षा–३.

५ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३५२, पृ. २००.

६ भगवती आराधना–१८

हैं। हिन्दी मे ३३ व्यञ्जन, १६ स्वर और ३ युग्माक्षर —५२ मूलवर्ण माने जाते हैं। उर्दू मे ३८, अरबी मे ३८, फारसी मे २४, अंग्रेजी मे २६ और फिनिक भाषा मे २० अक्षर हैं।

भर्त्तृहरि ने ६४ वर्णवाले 'अक्षर समाम्नाय' को, जो कि समस्त पद, वाक्यरूप वाग् व्यवहार का जनयिता है, अनादि निधन माना है—उसका कोई कर्त्ता नही है। उनका कथन है– "अस्याक्षरसमाम्नायस्य वाग्व्यवहारजनकस्य न कश्चित् कर्त्ताऽस्ति एवमेव वेदे पारम्पर्येण स्मर्यमाणम् ।।"[1] कातन्त्र व्याकरण मे भी 'सिद्ध वर्ण समाम्नाय' लिखा है। इससे वर्ण समाम्नाय की अनादि निधनता सिद्ध होती है। 'तत्त्वार्थ सार दीपक' की एक पंक्ति 'ध्यायेदनादि सिद्धान्त व्याख्याता वर्णमातृकाम्' मे भी उसे अनादि ही कहा है।[2] ज्ञानार्णव (३८-२) और मन्त्रोच्चार समुच्चय (अ २) मे—"ध्यायेदनादि सिद्धान्त-प्रसिद्ध–वर्णमातृकाम्। नि शेष शब्दविन्यास-जन्मभूमिं जगन्नुता ।।" लिखा है। गोम्मटसार मे 'वर्ण-समाम्नाय' को यदि एक ओर अनादि माना है तो दूसरी ओर यह भी लिखा है कि वर्ण आकार ग्रहण करते हैं और आकार में परिवर्तन होता है, इस दृष्टि से उसे सादि भी कहा है।[3] ऐसा जैनधर्म की अनेकान्तवादी प्रवृत्ति के अनुकूल भी है।

वर्ण वाक् का मूलाधार है। वर्णों से शब्द बनते है और शब्दो से वाक्य।[4] मन के भावो को पूर्ण रूप से समझने-समझाने का साधन है वाक्य। अर्थात् वाक्य किसी-न-किसी अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार जिस एक अथवा अनेक अक्षर समूह से अर्थ बोध होता है, उसे शब्द कहते हैं। अर्थ-बोध होना ही मुख्य है। अर्थ-बोध के बिना वर्ण, शब्द अथवा वाक्य की कोई गति नहीं। जैसे गौ, यह अक्षरात्मिका वाणी–'सास्नादिमान् पशु'–जिसके गले मे कम्बल-सा झूल रहा है–का बोध कराती है। गौ शब्द अपने इस अभिप्रेत अर्थ के लिए ही है। यदि अर्थवत्ता शब्द का प्रयोजन न हो तो शब्दाध्ययन निष्फल है। अत. शब्द-मात्र जान लेना पर्याप्त नही, अर्थज्ञान कल्याणकारक है। जिस शब्द का अर्थ-ज्ञान नही होता, वह आल्हादक नही लगता। उपनिषदो मे कहा गया है—"योऽर्थज्ञ. स इत सकल भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा।" इसका अर्थ है कि जो शब्द के अर्थ को जानता है, वह यहाँ सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान द्वारा पापो का क्षय कर स्वर्ग में जाता है। वेदो के विषय मे गीता और

---

१. देखिए भर्तृहरि का वाक्यपदीयम्.

२. तत्त्वार्थसारदीपक–३५.

३ भावश्रुत अनादि है और द्रव्यश्रुत सादि है। बृहत् जैन शब्दार्णव, पृ. ३१.

४. "वर्णा पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलि."
तत्त्वार्थसार, वाराणसी–५, २३ वाँ श्लोक, पृ. २१२.

उपनिषदों का मन्तव्य है कि वैदिक शब्दावली को जानकर उसके अर्थ को जानना चाहिये। यदि ऋचाओ को कण्ठस्थ करना ही वेदज्ञान की परिसमाप्ति मान ली जाय तो यह भ्रान्त धारणा ही होगी। एक श्रुति का कथन है—"स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेद यो विजानाति नार्थम्।" अर्थात् वह तो भारवाहक ठूठ ही है, जो वेदपाठी होकर उसका अर्थ नही जानता। उपनिषदो के 'अक्षरेण मिमते सप्तवाणी' मे सप्तविध वाक् अक्षरो-द्वारा व्यक्त है। यहाँ सप्तविध-वाक् का अर्थ—प्रथमा, द्वितीयादि विभक्तियाँ ही नही, अपितु सप्तभगिमा भी है। भगिमा का अर्थ है—मोड़। सात मोडो से तात्पर्य सात दृष्टिकोणो—अस्ति, नास्ति आदि से किसी वाक् का अर्थबोध कराना है। अर्थ अनक्षरात्मक होता है और वाक् अक्षरात्मक। अक्षरात्मक वाक् से अनक्षरात्मक अर्थ का दोहन ही वाक् का वांछित विषय है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को समझने के लिए 'सोऽहं' तथा 'ओ३म्' का उदाहरण समीचीन होगा। साधक प्रथमावस्था मे द्वैत-परिच्छिन्न अथवा माया-शबल होने से अपने को 'सोऽहम्'—वह परमात्मा मैं हूँ—ऐसा सोचता है। उस समय वह परमात्मा के लिए 'स' पद का प्रयोग करता है। स उसके लिए कहा जाता है जो दूर अथवा परोक्ष हो। शनै-शनै साधक के सिद्धावस्था मे पहुँचने पर वह उस परोक्ष को साक्षात् कर लेता है,[1] उस समय वह सोऽहम् के स्थान पर 'ओ३म्' कहता है। 'ओ३म् परमात्मपरक शब्द है तथा सस्कृत मे उसका अर्थ 'स्वीकार' है। परमात्मा के साथ अपने तादूप्य स्वीकार को 'ॐ' शब्द से कहा गया है। यहाँ शब्द अपनी पौद्गलिक सीमा से ऊपर उठकर अर्थ की गरिमा से महनीय हो उठा है। इसका यही आशय है कि शब्द-द्वारा अर्थ को प्राप्त करना अभीष्ट है। एतावता शब्द वाहन है और अर्थ गन्तव्य देश-प्राप्ति। यदि शब्द अर्थरूप-गन्तव्य देश प्राप्ति मे असमर्थ है, तो वे काष्ठनिर्मित उस अश्व के समान है, जो नामधारी अश्व तो है, परन्तु तदर्थ सम्पादक नही। गीता मे एक स्थान पर लिखा है—

"यावानर्थ उदपाने सर्वत. सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत:॥"[2]

अर्थ—चारो ओर भरे हुए जलाशयो मे—से, तृषित व्यक्ति को अपने तृषाशमन-मात्र जल की आवश्यकता है। तृषा-पूर्ति होने पर भरे हुए पानी के प्रति उसका

१ समाधितन्त्र, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, २८ वा श्लोक, पृष्ठ ३६.

और

अध्यात्मरहस्य, वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली, ४४ वाँ श्लोक, पृष्ठ ५४

२ श्रीमद भगवगीता २/४६ द

कोई प्रयोजन या राग भाव नही, उसी प्रकार वेद-प्रोक्त शब्दों से यथार्थ का ज्ञान प्राप्त होने पर विद्वान को उन शब्दो से प्रयोजन नही रह जाता। अत' शब्द नौका है और अर्थ तटभूमि।

शास्त्र अर्थवान् होते हैं। अर्थाभिव्यक्ति ही उनका लक्ष्य है। जैन परम्परा मे शास्त्र श्रुत कहलाते हैं। श्रुत वन्दनीय है, क्योकि वह अगाधज्ञान का कोष है। उससे ज्ञानरूप अर्थ की उपलब्धि होती है। यह श्रुत अथवा शास्त्र पद-वाक्यो से बनते है और पद-वाक्य वर्णों से रचे जाते है। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के कर्त्ता का कथन है—

"वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥"[1]

हिन्दी अनुवाद

वर्णों ने पद-वाक्य रचे, वाक्यों ने आगम।
स्वयं रचित इस आप्त शास्त्र में अहो ! कौन हम ॥

यह पद-वाक्य रूप वाक् ही शास्त्र तथा कला का मुख्य स्रोत है। उसके बिना शास्त्र और कला निरर्थक-से होकर रह जाते है। निरर्थक-से क्या, उनकी रचना ही नही हो पाती। शायद इसी कारण आदि ब्रह्मा ने सब से पहले वाङ्मय का उपदेश दिया। भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'महापुराण' के सोलहवे पर्व मे लिखा है—

"न बिना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रकलापि वा।
ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥"[2]

अर्थ—अक्षर तथा अक रूप वाङ्मय के बिना किसी भी शास्त्र तथा कला की अभिव्यक्ति नही हो सकती—यही विचार कर प्रजापति ने उन्हे प्रारम्भ से वाङ्मय का ही उपदेश दिया।

प आशाधर ने शब्द और अर्थ के ग्रहणरूप व्यापार को उपयोग कहा है। उनका कथन है कि श्रुत की दृष्टि से शब्द-गत उपयोगदर्शन और अर्थ-गत उपयोग ज्ञान कहलाता है तथा पुरुष आत्मा दर्शन-ज्ञान रूप है। प आशाधर-रचित 'अध्यात्म रहस्य' मे लिखा है—

उपयोगश्चितः स्वार्थ-ग्रहण-व्यापृतिः श्रुते:।
शब्दगोदर्शनं ज्ञानमर्थगस्तन्मयः पुमान् ॥

---

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३/२२६

२. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०६

३. पं. आशाधर, अध्यात्मरहस्य, वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली, १४ वाँ श्लोक, पृ. ३५.

लेख-सामग्री—

बूलर ने लेख-सामग्री के रूप मे भोजपत्र, ताड़पत्र, कागज, रुई का कपड़ा काष्ठफलक, चमड़ा, पत्थर, ईंटे, विभिन्न धातुएँ और स्याही का उल्लेख किया है। डॉ राजबली पाण्डेय ने इन्ही को कतिपय अधिक उद्धरणो के साथ प्रस्तुत किया है। कुछ नया नही है। नया हो भी नही सकता। कुछ कम-बढ यही सामग्री थी जो लिखने के काम आती थी। जैन ग्रथ भी इसी सब पर लिखे मिलते हैं। जैनग्रथो मे कही-कही सैद्धान्तिक रूप से भी इस सामग्री के प्रयोग का वर्णन मिलता है। सोमसेन ने त्रैवर्णिकाचार मे लिखा है कि काष्ठफलक पर अखंड चावलो से अक्षर लिखे और छात्र से लिखवावे। यहाँ चावल लेखनविधि का माध्यम है—

> "प्राङ्मुखो गुरुरासीनः पश्चिमाभिमुखः शिशुः।
> कुर्यादक्षरसंस्कार धर्मकामार्थसिद्धये ॥
> विशाल फलकायौ तु निस्तुषाखण्डतण्डुलान्।
> उपाध्यायः प्रसार्याथ विलिखेदक्षराणि च ॥
> शिष्य हस्ताम्बुज द्वन्द्व धृत पुष्पाक्षतान् सितान्।
> क्षेपयित्वाऽक्षराभ्यर्णे तत्करेण विलेखयेत् ॥"[१]

अर्थ—अध्यापक पूर्वमुख होकर बैठे और बालक को पश्चिम की ओर मुख कर बिठावे। बाद मे धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अक्षर-सस्कार करे। वह इस प्रकार कि—उपाध्याय एक मोटे काष्ठफलक (पट्टी) पर निस्तुष (छिलके रहित) अखड चावलो को बिछा कर पहले स्वय अक्षर लिखे, बाद मे उन अक्षरो के पास बालक के हाथ से सफेद पुष्प और अक्षतो का क्षेपण करवाकर, उस बालक के हाथ को अपने हाथ से पकडे और बालक से अक्षर लिखवावे।

काष्ठफलक पर अक्षराकृति के विधान की बात 'भगवती सूत्र' मे भी उपलब्ध होती है। उसमे लिखा है कि प्राचीन समय मे काष्ठफलक पर सुधा प्रभृति द्रव्यो का लेपन कर, अगुली अथवा नाखूनो से अक्षरो की आकृति बनाई जाती थी। —"पूर्वस्मिन् युगे काष्ठफलकादिक सुधाप्रभृति द्रव्यैरुपलिप्य अगुलिभिर्नखैर्वा अक्षराणामाकृतिर्वा विधीयते स्मेति प्रतीयते।"[२]

जैन ग्रथो के अनुसार प्राचीनकाल मे अक्षर लिखने का लोकप्रिय साधन काष्ठफलक ही था। उसका सर्वसाधारण मे प्रयोग होता था। बालको को अक्षरारम्भ उसी पर करवाया जाता था। बडे घरो (सेठ, सामन्त और राजा)

---

१ सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७४-१७६.

२. देखिए 'भगवती सूत्र' की संस्कृत व्याख्या.

मे उन पर कुंकुम और सुधा आदि का लेप होता था किन्तु साधारण जनसाधारण रोगन कर खड़िया से लिखते थे। कात्यायन ने व्यवस्था दी थी कि—वादों का विवरण काष्ठफलक पर खड़िया से लिखना चाहिए।[१] नगर निगमो मे ऐसे काठ के पट्ट रगे रहते थे, जिन पर खड़िया से लेन-देन का ब्यौरा लिखा जाता था।

अभी तक भारतीय शोध-खोजो मे ऐसा कोई ग्रथ नही मिला है, जो कि काष्ठफलको पर लिखा गया हो। डॉ विण्टरनित्स ने काष्ठफलक पर लिखा हुआ एक भारतीय ग्रथ बोडलीन पुस्तकालय मे देखा था।[२] बर्मा मे ऐसे ग्रंथ बहुत मिले है।[३] हो सकता है कि यहाँ भी लिखे जाते रहे हो, किन्तु प्रचलन कम ही रहा होगा, ऐसा लगता है।[४]

जैन ग्रंथो के अनुसार लेखन कार्य के लिए स्वर्णपट्टो का भी अधिक प्रयोग होता था। सोमसेन ने 'त्रैवर्णिकाचार' में जहाँ काष्ठफलक पर निस्तुषाखण्ड तण्डुलो से लिखने की बात कही है, वहाँ उन्होंने विकल्प मे हेमपीठ पर कुकुम का लेप कर स्वर्णलेखनी से अक्षराकृति के विधान का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है—

> "हेमाद्रिपीठके वाऽपि प्रसार्य कुंकुमादिकम्।
> सुवर्णलेखनीकेन लिखेत् तत्राक्षराणि वा॥
> नमः सिद्धेभ्यः इत्यादौ ततः स्वरादिकं लिखेत्।
> अकारादि हकारान्तं सर्वशास्त्रप्रकाशम्॥"[५]

इसका अर्थ है कि सोना-चाँदी आदि के बने हुए पाटे पर कुकुम-केशर आदि का लेप कर, सोने की लेखनी से उस पर अक्षर लिखे और बालक से लिखवावे। अक्षर लिखते समय सब-से पहले 'नम सिद्धेभ्य' लिखे। इसके बाद, अकार को आदि लेकर 'ह' कार पर्यन्त —सब शास्त्रो को प्रकाशित करने वाले स्वर और व्यञ्जन लिखे और बालक से लिखवावे।

प आशाधर ने 'प्रतिष्ठापाठ' मे 'ॐ, ह्रीं, श्री, अर्हं नम' मत्र को एक यत्र पर लिखकर एक सौ आठ बार जपने का निर्देश किया है। यत्र स्वर्ण पात्र पर बनाया जाये और उस पर, पद्मरागमणि के समान प्रभा वाले लोग के फूलो

---

१ बरनेल, 'एलीमेण्टस् ऑव साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी', पृ ८७, N २

२ ब्यूलर, भारतीयपुरालिपिशास्त्र, वाराणसी, पृ १६२

३ बरनेल, 'एलीमेण्टस् ऑव साउथ इण्डियन पेलियोग्राफी', पृ. ८७

४ 'भगवती सूत्र' के विविध उद्धरणों से विदित है कि कुछ जैन उल्लेख काष्ठफलको पर उकेरे गये थे।

५. सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७७, १७८

से बने कुंकुमादि से उपयुक्त मंत्र लिखा जाये। उन्होंने लिखा है—

"कुंकुमाद्यैर्लिखेद् यन्त्रं पात्रे स्वर्णादि निर्मिते।
लवंगादि भवैः पुष्पैः पद्मराग सम प्रभैः॥"[१]
'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमो मन्त्रं जपेदष्टोत्तरं शतम्।

प. आशाधर ने ही 'प्रतिष्ठापाठ' मे एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि निवास भूमि के अग्रभाग मे एक बिम्ब की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, जिस पर स्वर्ण-लेखनी से सुन्दर अक्षरो मे यत्र बनाया गया हो। उस भूमि मे विराजमान वह आचाल्य बिम्ब ऐसा ही है, जैसे मन प्रसत्ति मे रहस्य। ऐसी भूमि श्लाघनीय होती है—

"आचाल्य बिम्बेऽग्रनिवासभूमौ
विलेखनीय पट्टैर्नत्विकेन।
सुवर्णलेखन्यजयन्त्रधार्या
श्लाघ्या रहस्येव मनः प्रसत्तौ॥"[२]

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे वर्णमाला का ज्ञान कराने के लिए स्वर्णपट्ट के प्रयोग की बात लिखी है। भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थी—ब्राह्मी और सुन्दरी। एक दिन दोनो को बुलाकर भगवान् ने कहा कि हे पुत्रियो! तुम दोनो के विद्याग्रहण करने का यही समय है, अत तुम दोनो विद्या-ग्रहण करने मे प्रयत्न करो। भगवान् ने ऐसा कहकर तथा बार-बार आशीर्वाद देकर विस्तृत स्वर्णपट्ट पर अ, आ आदि वर्णमाला तथा इकाई-दहाई अको को स्वय लिखा, फिर उनसे लिखवाया।

"तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम्।
तत्संग्रहण कालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना॥
इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्था श्रुतदेवीं सपर्यया॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्॥"[३]

स्वर्ण पट्टो के साथ रजत पत्रो का भी प्रचलन था। उन पर या तो 'नमस्कार मत्र' (णमोकार मत्र) लिखा होता था अथवा कोई यत्र (ऋषिमण्डल आदि) खुदा होता था।[४] यत्र के आकार के बीच मे तत्सम्बन्धी मत्र तथा उसके अक्षर

१ प आशाधर, प्रतिष्ठापाठ, १३२, पृ ४१६-१७
२ प आशाधर, प्रतिष्ठापाठ, १३२, पृ ४१४
३ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०२-१०४
४ ओझा, प्राचीनलिपिमाला, पृ १५२, पादटिप्पण, ५

रहते ही हैं, यह नियम है। आज भी अधिकांश जैन यंत्र 'रजत पत्रों' पर ही लिखे जाते हैं। उन्ही को शुभ माना जाता है।

स्वर्णपट्ट के बाद ताम्रपत्र अथवा ताम्रशासन का अधिक प्रयोग होता था। प्राचीन जैन ताम्रपत्रों से स्पष्ट है कि अधिकाश रूप से उन पर दान घोषणाएँ होती थी। प्रारम्भ मे दान देने वाले की प्रशस्ति, फिर दान की मिकदार-ग्राम स्वर्ण और रजत और तत्पश्चात् दान ग्रहण करने वाले का नाम और परिचय आदि रहता था। वजीरखेड (नासिक-महाराष्ट्र) मे प्राप्त तीन ताम्रपत्रो मे लिखा है कि—राज्याभिषेक के समय, स्वर्ण तुलादान के अवसर पर, इक्कीस लाख द्रम्म आय वाले ६५० गाँव दान दिये गये। इसी मे जैन द्रविड सघ के वर्द्धमान गुरु को दो गाँव दिये जाने का भी उल्लेख है।[1] कादलूर (माडया-मैसूर) मे नौ ताम्रपत्र मिले हैं। इन पर प्रारम्भ मे गगवश के राजाओ की वशावली दी है, तत्पश्चात्, कोगल देश मे निर्मित जिन मदिर के लिए सूरस्तगण के एलाचार्य को कादलूर ग्राम दान मे दिये जाने की बात लिखी है।[2] डॉ वासुदेवसिह ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन' मे प्रारम्भिक ईसवी सन् के अनेक ताम्रपत्रो को मूलरूप मे प्रस्तुत किया है। सभी मे धार्मिक कार्यों के लिए दान देने का उल्लेख है।[3] उन्होने लिखा है कि दान तथा धार्मिक वृत्तान्त लिखने के लिए ताम्रपत्रो का प्रयोग होता था। वे तो अशोक-पूर्व युग के पिपरावा (उत्तर प्रदेश) के 'सोहगारा ताम्रपत्र' से ईसवी-पूर्व पाँच सौ के लगभग लेखन कला के प्रचार को प्रमाणित करते हैं।[4] जिन-मदिरो मे ताबा और पीतल मिला कर बनाये गये प्लेट्स भी बहुत मिलते हैं, जिन पर धार्मिक सूत्र खुदे हुए है। सातवी सदी ईसवी की पीतल की बनी लगभग सभी मूत्तियाँ जैन मूत्तियाँ है और उन पर खुदे मूत्तिलेख जैन लेख है।

उत्तरवर्त्ती काल मे तीलियो से तालपत्र (ताडपत्र) पर लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ, और वहाँ से ही 'लिख विलखने' प्रसिद्ध हुआ। भगवती सूत्र मे लिखा है—"तत्पश्चादुत्तरवर्त्तिनि युगे शकुभिस्तालपत्रेषूत्कीर्य लेखन प्रवृत्त-मिति लेखन शब्दस्य (लिख विलखने धातु) विलेखनार्थपरत्वात् विज्ञायते।"[5] ताडपत्र मूलरूप से दक्षिण मे पैदा होता था। वहाँ से भारत के दूसरे देशो मे

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग ५, जोहरापुर-सम्पादित, वाराणसी, पृ १५.

२ वही, पृ २१

३ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृ ४६

४ देखिए वही, पृ २४०.

५ भगवती सूत्र, संस्कृत व्याख्या

फैला। बौद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक इसी पर लिखे गये थे।[१] दिगम्बर जैन धर्म के प्राचीन ग्रथ जयधवल और महाधवल भी ताडपत्रो पर लिखे गये थे।

सूती और रेशमी कपडो पर भी ग्रन्थ लिखे जाते थे। ब्हूलर को जैसलमेर के 'बृहज्ज्ञानकोष' मे रेशम की एक पट्टी पर लिखी जैन सूत्रों की सूची प्राप्त हुई थी।[२] इस पर रोशनाई से लिखा गया था। पीटरसन को अणहिलवाद पाटण में कपडे पर लिखा एक जैन ग्रंथ धर्मविधि, जिसके रचयिता श्रीप्रभसूरि थे, प्राप्त हुआ था। इस ग्रंथ मे ९३ पृष्ठ हैं और उनकी चौडाई लगभग १३ इंच है।[3] ऐसे ग्रथो के सदर्भ मे डॉ राजबली पाण्डेय का कथन है, "At Present in Jain Temples a number of papers are found, containing Mandalas and figures made at the time of the concecration of temples"[४]

कभी शिलालेखो पर भी ब्राह्मीलिपि मे ग्रंथ लिखने का रिवाज था। जैन आचार्यों ने उसे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया है। उनका कथन है—

"शुभे शिलादौ उत्कीर्य श्रुतस्कन्धमपि न्यसेत्।
ब्राह्मीन्यासविधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात॥
सुलेखकेन संलिख्य परमागमपुस्तकम्।
ब्राह्मीं वाश्रुतपञ्चम्यां सुलग्ने वा प्रतिष्ठयेत्॥"[५]

अर्थ—शुभ मुहूर्त मे शिलादि मे उत्कीर्ण करके श्रुतस्कन्ध की भी स्थापना करे, फिर ब्राह्मी के न्यास विधान से उसकी स्तुति करे। सुलेख-पूर्वक परमागम पुस्तक अथवा ब्राह्मी लिखकर श्रुतपंचमी के शुभ मुहूर्त मे उसकी स्थापना करनी चाहिये। जैन समाज मे आज भी श्रुतपचमी के दिन बालक को पाँच वर्ष की आयु मे अक्षराभ्यास का मुहूर्त कराये जाने की प्रथा है। यह प्रथा तीर्थंकर वृषभदेव से प्रारम्भ हुई और सतत चल रही है।

आज अनेक जैन ग्रन्थ कागजो पर लिखे मिलते है, किन्तु वे अधिक प्राचीन नही हैं। भारत की जलवायु मे कागज कालान्तर तक नही चल पाता, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सिकन्दर के साथ आये नियरकस (327 B. C.)—एक ग्रीक लेखक ने यहाँ जो रुई से तैयार कगज पर लोगो को लिखते देखा,[६]

---

१ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ १६३

२ देखिए वही, पृ १६१

३ इसका लेखन-काल १३६१-६२ ई सन् माना गया है। देखिए—इण्डियन पेलियोग्राफी, डा राजबली पाण्डेय, पृ ७२-७३

४ वही, पृ ७३

५ पं आशाधर, प्रतिष्ठापाठ, ६।३३-३४

6. Starbo, xv, 717

वह गलत था। उस समय के लिखे ग्रंथ तो अब नही मिलते, वे भारतीय जलवायु के कारण नष्ट हो गये होंगे, स्वाभाविक है। कागज़ पर लिखने की बात काशगर (मध्य एशिया) से प्राप्त एक भारतीय ग्रंथ से भी होती है। यह पाँचवी शताब्दी मे, गुप्ता पीरियड मे, गुप्ता लिपि मे लिखा गया था[१]। राजा भोज (११वी शती) के भोजप्रबन्ध से भी सिद्ध है कि कागज़ लेखन के काम आता था।[२] आज वे ग्रथ यहाँ भले ही न मिले, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उस समय कागज़ का प्रचलन नही था।

'एलबरूनीज़ इण्डिया'[3] मे लिखा मिलता है कि बौद्ध और जैन ग्रथ प्राय भोजपत्रो पर लिखे गये। आज भी जैन ग्रन्थ-भण्डारो मे भोजपत्रों पर लिखे अनेक प्रसिद्ध जैन ग्रथ मिलते हैं। अत कालिदास के 'कुमारसम्भव'[४] मे यह कथन कि भोजपत्र पर केवल प्रेमपत्र ही लिखकर भेजे जाते थे, उचित नहीं है। अमरकोष मे—जो कि एक जैन ग्रथ था और जिसके रचयिता अमर नाम के जैन साधु थे—भोजपत्र का उल्लेख आया है। उसमे लिखा है, "भर्जेचर्मिमृदुत्व चौ।"[५] भोजपत्र हिमालय के उत्तुग प्रदेश मे उत्पन्न होता था। पहले इसका प्रचलन उत्तर पश्चिमी भाग तक सीमित था, फिर और भागो में भी फैल गया।[६] सिकन्दर के आक्रमण के समय उसका प्रचार था।[७] श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा का कथन है कि भोजपत्र पर खरोष्ठी लिपि मे लिखा सब से प्राचीन ग्रथ 'धम्मपाद' प्राप्त हुआ है। भोजपत्र पर लिखा इससे अधिक प्राचीन ग्रंथ और नही मिला। इसकी रचना ईसा से दो या तीन शताब्दी पूर्व हुई थी।[८]

जैन लेखक अपने ग्रन्थों मे रगीन स्याही का प्रयोग करने मे निपुण थे।[९] उन्होने प्राय ग्रथो के अन्त मे पीली और हरी स्याही से लिखा है। बीच-बीच मे सुनहली स्याही से लिखने का उनका स्वभाव-सा था। प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्राय. लाल स्याही से लिखी मिलती हैं।[१०] 'कथा सरित्सागर' के रचयिता सोमदेव

---

१ ब्हूलर, पुरालिपिशास्त्र, पृ १६६
2. Rajendralal Mitra, gough's papers, 16
3 Alberuni, India (Sachau) I, 171
४ न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र, भूर्जत्वच कुञ्जरबिन्दुशोणा ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्ग लेखक्रिययोपयोगम् ॥ कुमारसम्भव १/७.
५ अमरकोष, २/४/४६
6 Gough's papers, 17.
७ इण्डियन पेलियोग्राफी, डा पाण्डेय, पृ ६७
८ ओझा, प्राचीनलिपिमाला, पृ १४४
9. Rajendralal Mitra, Notices of sanskrit M. S. S. 3, PL I.
१०. ओझा, प्राचीनलिपिमाला, पृ. १४६

का यह कथन कि लाल अक्षरों के लिए खून का प्रयोग होता था, ठीक नही है। जैन और अजैन कोई ग्रंथ ऐसा नही है, जिसमे खून का प्रयोग किया गया हो। स्याही के अभाव मे भी रुधिर का प्रयोग ग्रंथ लेखन मे नही हुआ। प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कुछ साथी रुधिर से हस्ताक्षर करते थे और वह प्रतिज्ञा भी रुधिर मे लिख लेते थे। भारत के अति प्राचीन काल मे लाल स्याही के बदले सिंदूर और हिंगुल का प्रयोग होता था।[1] मजीठ का प्रयोग भी अधिक किया जाता था।

स्याही के सदर्भ मे ऐतिहासिकता की बात करते हुए ब्हूलर ने लिखा है, "निआर्कस और कर्टिस के इस कथन से कि हिन्दू रुई के कपडे और पेड की छाल, अर्थात् भोजपत्र पर लिखते थे—प्रतीत होता है कि वे ईसवी-पूर्व चौथी शती मे स्याही का प्रयोग करते थे। अशोक के आदेश लेखो मे कभी-कभी कुछ अक्षरो मे फन्दो के स्थान पर बिन्दिया मिलती हैं। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है।"[2] इसके अतिरिक्त एक प्राचीन उदाहरण अधेर का धातुकलश भी है, जिस पर स्याही से अक्षर लिखे हुए है। यह ईसवी-पूर्व दूसरी शती का उदाहरण है।[3] ईसा-पूर्व लिखे गये गृह्य सूत्रो मे भी मषि शब्द का प्रयोग हुआ है।[4]

मषि शब्द 'मष् हिंसायाम्' मे बना है। इसका अर्थ है—मसलना, जिसको अंग्रेजी मे Crushing अथवा Poundiog भी कहते है। भारत के कुछ भागो मे स्याही के लिए 'मेला' शब्द का प्रयोग हुआ है। बेनफे, हिंक्स और बेबर ने मषि के लिए एक ग्रीक व्युत्पत्ति ढूंढने का प्रयास किया है, किन्तु ब्हूलर का कथन है कि मेला शब्द प्राकृत के 'मैल' मे बना है, जिसका अर्थ होता है गदा, काला।[5] डॉ राजबली पाण्डेय का मत है कि यह सस्कृत की धातु 'मेल' से बना है, जिसका अर्थ है—सम्मिश्रण।[6] स्याही, पानी, गोद और शक्कर आदि मिला कर ही तैय्यार होती है। मेला शब्द का ज्ञान सुबन्धु को था। उसने 'मेलानन्दायते' का प्रयोग किया है। मेलानन्द Inkpot को कहते है। सस्कृत के लेखको को 'मेला' शब्द का ज्ञान था। अमरकोष मे एक त्रिकाण्डकोष का उद्धरण दिया हुआ है—"मेला मसीजल पत्राञ्जन व स्यान्मसिर्द्वयो इति त्रिकाण्डशेष"[7] एक दूसरे कोष

---

१ ब्हूलर, भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृ २०१

२ देखिए, वही, प २००

३ देखिए, वही, प २००

४ वही, पृ १९९

५ वही, पृ २००

6 But a more plausible derivation of the term 'Mela' is from the Sanskrit root 'Mel' (to mix) The word 'Mela' obviously means the state of being mixed, implying the mixing of many ingredients in the preparation of Ink "
—Dr Pandey, Indian Palaeography, P. 84

७ अमरकोष, ३/५/१०, त्रिकाण्डकोष, २/८/२७

मे लिखा है, "मलिनाम्बु कांचनिका मेला धातुपल पुमान् । क्लीबे पत्राञ्जनं च स्यात् ।।" दवात के लिए कोषकल्पतरु मे 'मेलान्धुर्मषिकूपिका'[1] आया है। इसके अनुसार मेलान्ध्र और मषिकूपिका दवात को कहते थे। इसके अतिरिक्त मेलानन्दा, मेलाधुका, मसिपात्र और मसिभाड आदि का भी विभिन्न ग्रंथो मे प्रयोग हुआ है।

लेखनी के लिए वर्णक शब्द का प्रयोग होता था। अमरकोष और मेदिनीकोष दोनो मे 'वर्णक' ही आया है।[2] जहाँ रग भरने की बात होती थी, वहाँ लेखनी को अमरकोष मे "एषिका तूलिकासमे" लिखा है।[3] इसका एक तीसरा नाम शलाका भी था। जैन ग्रथो मे उसका अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। मालती माधव मे–'अयस्कान्तमणि शलाका' आया है।[4] दशकुमार चरित मे वर्णवर्तिका शब्द का प्रयोग मिलता है।[5] जहाँ शिलास्तम्भो पर लेखन का प्रश्न था, वहाँ छैनी से काम लिया जाता था। लेखनी शब्द सभी मे प्रचलित था।

लिपि की प्राचीनता

पाश्चात्य विद्वान् भारतीय लिपि की प्राचीनता के सन्दर्भ मे पहला उद्धरण अशोक के शिलालेखो को मानते है। इसके पूर्व का कोई उद्धरण उन्हे प्राप्त नही हुआ था। अशोक के शिलालेखो का समय ईसा-पूर्व तीन सौ वर्ष कूता जाता है। श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपनी 'प्राचीन लिपिमाला' मे अशोक से भी पूर्व के दो उद्धरण प्रस्तुत किये है। पहला है–नैपाल की तराई मे स्थित पिप्रावा नामक स्थान के एक स्तूप के भीतर मे प्राप्त ताम्र-पत्र पर खुदा एक लेख। इस पात्र मे बुद्धदेव की अस्थियाँ रक्खी हुई थी और उसके ऊपर एक लेख खुदा हुआ था–"इद शरीर निधान बुद्धस्य भगवत शाक्याना।" इस ताम्रपत्र का समय ईसा-पूर्व चार सौ वर्ष माना गया है।[6] इस प्रसग मे डॉ वासुदेवसिंह ने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन' मे लिखा है, "ऐसे पात्रो पर उपलब्ध लेखो मे पीपरावा (बस्ती-उत्तरप्रदेश) का पात्र-लेख सब-से-पुराना है, जिस पर अशोक से पूर्व लिपि मे लेख अकित है।"[7]

---

१ कोषकल्पतरु, देखिए 'धी' वर्ग
२. अमरकोष, ३/५/३८, मेदिनीकोष, १३/१५३-१५४
३ अमरकोष, ३/१०/३२
४. मालती माधव, १/२
५ दशकुमारचरित, उच्छ्वास २
६ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृ ३१-३२
७ वही, पृ ४२

ओझाजी ने दूसरा उद्धरण अजमेर जिले के बडली ग्राम मे स्थित एक छोटे-से शिलालेख को माना है। बडली (बरली) गाँव अजमेर से छब्बीस मील दक्षिण-पूर्व मे है। यह शिलालेख एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख का खण्ड है। इसकी पहली पक्ति मे–वीर (ा) भगव (त) और दूसरी पक्ति मे चतुरासिति व (स) खुदा है। इस पर ओझाजी का अभिमत है, "इस लेख का ८४ वाँ वर्ष जैनो के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण सवत् का ८४ वाँ वर्ष होना चाहिए। अनुमान ठीक हो तो यह लेख ई पूर्व (५२७–८४=४४३) का होना चाहिए। इसकी लिपि अशोक के लेखो मे प्रयुक्त लिपि से पूर्व की प्रतीत होती है। इसमे वीराय का वी अक्षर 'ठ' है। उक्त वो मे जो ई मात्रा चिह्न है, वह अशोक के लेखो मे अथवा उसके उत्तरवर्ती किसी लेख मे नही मिलता। अतएव वह चिह्न अशोक मे पूर्व की लिपि का होना चाहिए। अशोक के समय मे ई मात्रा के लिए '⅃' चिह्न व्यवहार मे आने लगा था।"[1] एक पत्र मे प्रकाशित इस लेख का उद्धरण और टिप्पड इस प्रकार दिया है–

" विरय भगव (त) थ चतुरासि तिव (स) . (का) ये सालिमालिनि .र निविठमाझिमि के" इसका अर्थ है–भगवान् वीर के लिए .८४वे वर्ष मे मध्यमिका के .। इस पर, उस पत्र के सम्पादक का टिप्पड है, "यह शिलालेख महावीर-सवत् ८४ का है। आजकल यह अजमेर सग्रहालय मे है। अजमेर से २६ मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित बरली से यह प्राप्त हुआ था। शिलालेख मे उल्लिखित माध्यमिका चित्तौड से ८ मील उत्तर स्थित नगरी नामक स्थान है। यह भारत का प्राचीनतम शिलालेख है।"[2]

यदि सुदूरवर्ती भारत मे झाकें तो मोहन-जो-दरो और हरप्पा की खुदाइयो मे प्राप्त मोहरो और फलको पर खुदे लेख प्राचीनतम भारतीय लिपि के चिह्न हैं। उन पर अकित आकारो की कायोत्सर्ग मुद्रा और वैराग्यपूर्ण ध्यानावस्था से पुरातत्त्वज्ञो ने उन्हे जैन तीर्थंकर माना है और उन पर खुदे लेखो को जैन लेख। डॉ प्राणनाथ ने एक लेख पर 'ॐ जिनाय नम' पढ़ा है। लिपि का पढा जाना विवादग्रस्त हो सकता है, किन्तु वह लिपि तो है ही, इसमे किसी को विवाद नही है। अत कहा जा सकता है कि ईसा से ३००० तीन सहस्र वर्ष पूर्व के भारतवासियो को लिपि-ज्ञान था। डॉ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अशोक के शिलालेखो की सुविदित ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध सिन्धुघाटी (मोहन-जो-दरो और हरप्पा) की लिपि से जोडा है। उनका कथन है—

"There is a superficial agreement between this youngest or linear phase of Mohan-Jo-dro writing of the period before 1500 or 2000 B. C. and the Brahmi Script of the 3rd Century B C Some of the Mohan-Jo-dro Signs resemble or are

---

१. ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृ २-३

२ वह 'एक पत्र' मुनिश्री विद्यानन्दजी के पास सुरक्षित है।

almost identical with Brahmi letters. Some others are a bit Complicated. what is most important, in some of the Mohan-Jo-dro signs, it would oppear that the Brahmi charactestic of tagging on vowel signs to the Consonent letters is also found, besides combinations of two or more consonents "[1]

इसका हिन्दी अर्थ है—ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि और मोहन-जो-दरो लिपि के १५०० या २००० ईसवी-पूर्व के कनिष्ठ अथवा उत्तरवर्ती रूपो मे विशेष समानता है। मोहन-जो-दरो लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी वर्णों के सदृश हैं अथवा लगभग वही है। कतिपय अन्य जटिल अवश्य हैं। दो या अधिक व्यञ्जनो के सयोजन के अतिरिक्त, व्यञ्जन वर्णों मे स्वर-मात्राओ के लगाने की ब्राह्मी विशिष्टता भी मोहन-जो-दरो लिपि मे प्राप्त होती है।

डॉ उदयनारायण तिवारी ने भी अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा उद्गम और विकास' मे ऐसी ही मान्यता स्थापित की है। उनका कथन है, "इसका प्राचीनतम रूप सिन्धुघाटी लिपि मे उपलब्ध होता है और वस्तुत. यही लिपि (सिन्धु घाटी लिपि) चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक लिपि की विभिन्न अवस्थाओ से होती हुई ब्राह्मीलिपि मे परिणत हुई थी।"[२]

निम्नांकित तुलनात्मक चार्ट से यह स्पष्ट हो जायेगा –

सिन्धु लिपि	ब्राह्मी लिपि	वर्तमान ब्राह्मी लिपि हिन्दी
		अ
	∴	इ
	::	ई
	+	क
∧	∧	ग
		च
E	E	ज
		त
⊙	⊙	थ
□	□	व
		म
		य

1. Dr. Suniti Kumar Chatterji, Indian system of writing, Publication division, Govt- of India, 1966, P. 9.

२. डा. उदयनारायण तिवारी, 'हिन्दी भाषा : उद्गम और विकास', पृ. ५८०.

सिन्धु घाटी की सभ्यता भारतीय सभ्यता थी, इसमे कोई सन्देह नही है। उसका प्रचार-प्रसार समूचे भारत मे था। आगे पनपने वाली भारतीय सभ्यता मे भी उसके चिह्न नि.शेष नही हुए, यह आज की शोध-खोजो से प्रकट है। राय बहादुर प्रो. रामप्रसाद जी चदा का अभिमत है कि मोहन-जो-दरो और मथुरा की जैनमूर्त्तियो में हू-ब-हू समानता है। अर्थात् वैसी ही कायोत्सर्ग मुद्रा, वैसी ही ध्यानावस्था और वैसी ही वैराग्य दृष्टि। यद्यपि मिश्र और ग्रीक की प्राचीन मूर्त्तियो की भी कायोत्सर्ग मुद्रा है, किन्तु वैराग्यपूर्ण ध्यानावस्था नही। यह बात केवल जैन मूर्तियो मे ही प्राप्त होती है, अन्यत्र नही।[1] डॉ राधाकुमुद मुकर्जी ने अपने ग्रन्थ 'Hindu Civilization' मे भी मोहन-जो-दरो और मथुरा की जैन मूर्त्तियो मे साम्य स्वीकार किया है।[2] ऋषभदेव की जिस खड्गासन प्रतिमा को खारवेल राजगृह से पुन वापिस कलिंग मे ले गया,[3] वह भी मोहन-जो-दरो मूर्तियो की प्रतिकृति-सी थी। मोहन-जो-दरो और हरप्पा की खुदाइयों मे जैन तीर्थंकरो की मूर्त्तियो की उपलब्धि विवादग्रस्त नही है। पुरातात्त्विक दृष्टि से दर्पणवत् स्पष्ट है। यह सिद्ध है कि सम्राट ऋषभदेव ने अपने पुत्र बाहुबली को सीमा प्रान्त, पंजाब और सिन्ध की दिशा का पूरा राज्य बँटवारे मे दिया था। यदि वहाँ जैनधर्म और सस्कृति विकसित हुई हो तो वह प्रश्नवाची नही है।

जहाँ की सभ्यता इतनी समुन्नत हो, वहाँ के निवासियो को लिपिज्ञान न हो, कैसे सम्भव है? तो, भारतीय लिपि की कहानी बहुत दूर तक चली गई है, यह सत्य है।

बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला

"ततो भगव विहरमाणो बहलीविसय गतो,
तत्थ बाहुबलीस्स रायहाणी तक्खसिला णामं।
—आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, पृष्ट १८०-८१

उसभजिणस्स भगवो पुत्तसयं चक्खुरसरिसाणं।
समणत्त पडिवन्न सए य देहे निखयक्खं ॥
तक्खसिलाए, महप्पा, बाहुबली तस्स निच्चपडिकूलो।
भरहनरिंदस्स सया न कुणइ आणा-पणा म सो ॥
अह रुट्ठो चक्कहरो, तस्सुवरि सयल साहण ममग्गो।
नयरस्स तुरियचवलो, विणिग्गओ सयलबल सहिओ ॥
पत्तो तक्खसिलपुरं जयसद्द घुट्ठ कलयलारावो।
जुज्झस्स कारणत्थं सन्नद्धो तक्खण भरहो ॥
बाहुबली वि महप्पा, भरहनरिंदं समागयं सोउ।
भडचडयरेण महया, तक्खसिलाओ विणिज्जाओ ॥"
—पउमचरिय, विमलसूरि, ४-३७-४१

---

1 Modern review, August, 1932, Page 155-160

2 'Hindu Civilisation' का हिन्दी अनुवाद–'हिन्दू सभ्यता', पृ० २७५

३ "नन्दराज नीतानि अग जिनस नग मह रतन पडिहारेहि अग मागधे वसवु नेयाति।"
हाथीगुम्फ शिलालेख, १२ वी पक्ति, देखिए जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १६, किरण २, पृष्ठ १३४

और

Dr Boolchand Jain, 'Jainism in Kalingdesa', 'Jain cultural research society', Banaras Hindu University, Bulletin No 7, P 10

ब्राह्मी लिपि

ब्राह्मी शब्द और उसका प्रयोग

ऋग्वेद मे ब्राह्मी शब्द आया है जिसे मातर कहा गया है। अर्थात् माता के अर्थ मे ब्राह्मी का प्रयोग होता था। ऋग्वेद की वह ऋचा इस प्रकार है—

**"अभी ब्रह्मीरनूषत् ब्रह्मीर्ऋतस्य मातरः
मर्मृज्यते दिवः शिशुम् ।।"**

—ऋग्वेद ९/३३/५, चतुर्थ भाग, पूना

इस ऋचा से स्पष्ट है कि मातर के अर्थ में ब्राह्मी शब्द का नही, अपितु ब्रह्मी शब्द का प्रयोग हुआ था। 'अमरकोषकार' ने इसी अर्थ मे ब्राह्मी शब्द का प्रयोग किया, जैसा कि 'ब्राह्मीत्याद्यस्तु मातर'[1] से स्पष्ट है। 'अमरकोषकार' ने ब्राह्मी शब्द का प्रयोग 'सोमवल्लरी, और 'भाषा तथा लिपि' के अर्थ मे भी स्वीकार किया है। सोमवल्लरी के लिए उन्होने लिखा है, "ब्राह्मी तु मत्स्याक्षी वयस्था सोमवल्लरी।"[2] भाषा और लिपि को बताने वाली उनकी पक्तियां है —

**"ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती ।
व्यवहार उक्तिर्लपित भाषित वचनं वचः ।।"**[3]

इसकी पहली पक्ति का विश्लेषण करते हुए एक व्याख्याकार ने लिखा है— "ब्राह्मी द्वारा लोक मे प्रचारित होने से ब्राह्मी, भारत मे बोले जाने से भारती, मुख से उच्चार्यमाण होने से भाषा, शब्दार्थों का निगरण करने से गी अथवा गिरा, उच्चरित होने से वाक्, शब्दार्थ के सम्भवन से वाणी तथा गतिशीलता से सरस्वती कहलाती है।"

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान चितामणि' मे ब्राह्मी शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया है। उन्होने रोहिणी नक्षत्र के दो नाम बताये—ब्राह्मी और रोहिणी।[4] मातर के अर्थ मे भी उन्होने ब्राह्मी शब्द का प्रयोग किया। उन्होने लिखा कि शिवजी के परिकर मे ब्राह्मी आदि सात माताएँ है—ब्राह्मी, सिद्धी, माहेश्वरी, कौमारी,

---

१ अमरकोष, १/१/३५, मिलाइए 'ब्रह्माण्याद्या स्मृता सप्तदेवता मातरो बुधै इति हलायुध', १/१७

२ अमरकोष, २/४/१३७, मिलाइए, 'ब्राह्मी तु भारती। शाकभेद पकगण्डी हज्जिका सोमवल्लरी। ब्रह्मशक्ति इति हैम, २/२३२-३३ तथा 'ब्राह्मी तु भारती सोमवल्लरी ब्रह्मशक्तिषु' इति मेदिनी।

३ अमरकोष, १/६/१, मिलाइए 'ब्रह्माणी वचन वाचा जल्पितं गदितं गिरा, इति शब्दार्णवः (४)' तथा 'ब्राह्मी त ब्रह्मशक्ति स्यान्मत्स्याक्षी भारती च सा' इति नानार्थरत्नमाला

४ 'कृत्तिका बहुलाश्चाग्निदेवा ब्राह्मी तु रोहिणी', अभिधान चिन्तामणि, २/२३, पृ० २३

वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा ।[१] हेमचन्द्र ने सरस्वती के नौ नाम बताये—वाक्, ब्राह्मी, भारती, गौ, गी, वाणी, भाषा, सरस्वती और श्रुत देवी ।[२] इसके अतिरिक्त उन्होंने पीतवर्ण लोहे के पाँच नामो मे एक नाम ब्राह्मी भी लिखा ।[3] भागुरि ने भी ब्राह्मी को 'मातर' कह कर सम्बोधित किया है। उन्होंने लिखा है, "ब्राह्माद्या मातर स्मृता ।" हर्षकीर्ति ने अपनी शारदीया नाममाला मे वाग्देवी, शारदा, भारती गी और सरस्वती के साथ ही ब्राह्मी को भी रखा है। उन्होने उसे हसयाना ब्रह्म-पुत्री कहा है —

"वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती ।
हसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः ।।"[४]

कुछ लोग अपनी पुत्रियो का नाम ब्राह्मी रखते थे। वाराणसी के महाराजा विश्वसेन की महारानी का नाम ब्राह्मी देवी था। आगे के साहित्य मे इन्ही को वामा-देवी कहा गया। तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ इनके पुत्र थे। आचार्य गुणभद्र के उत्तर-पुराण मे वामादेवी का उल्लेख है—

"वाराणस्यामभूद्विश्वसेनो काश्यपगोत्रजः ।
ब्राह्मयस्य देवी सम्प्राप्ता वसुधारादि पूजना ।।[५]

इसी प्रकार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थी—ब्राह्मी और सुन्दरी। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे इनका विस्तृत विवेचन किया है। हरिवश पुराण मे भी इनका उल्लेख मिलता है। पुरुदेव चम्पू मे ब्राह्मी की उत्पत्ति का कला-पूर्ण वर्णन है —

"ब्राह्मीं तनूजामति सुन्दरांगीं
ब्रह्मनाथ तस्यामुत्पादयत्सः ।
कलानिधेः पूर्णकलां मनोज्ञां
प्राच्या दिशायामिव शुक्लपक्षः ।"[६]

ऋषभदेव आदि ब्रह्म कहलाते थे। उन्हे यह ब्रह्मपद, अपने समाधितेज से अष्ट कर्मों को भस्म करने के बाद प्राप्त हुआ था। आचार्य समन्तभद्र ने उन्हें 'बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वर' लिखा है। वे विश्वचक्षु थे और समग्र विद्याओ के धनी। उनका

---

१ अभिधानचिन्तामणि, २/११५, पृ० ५७
२ वही, २/१५५, पृ० ६७
३ वही, ४/११४, पृ० २५८.
४ हर्षकीर्ति, शारदीया नाममाला, १/२.
५ गुणभद्र, उत्तरपुराण, ७३/७५.
६ पुरुदेव चम्पू, ६/३६ ४०-

वपु निरञ्जन था—सभी प्रकार के मैल और कलुष से रहित ।[1] ब्रह्म होने के कारण ही उनकी बड़ी पुत्री ब्राह्मी कहलाई । ऋषभदेव ने उसे ब्रह्म विद्या सिखाई । वह विदुषी ही नहीं बनी अपितु अपनी साधना से जन-जन के मध्य पूजापद की अधिकारिणी भी हुई । चम्बाघाटी में ब्राह्मी देवी का मदिर आज भी इसका प्रमाण है । यही कारण है कि आगे की जैन परम्परा मे पुत्रियो का नाम ब्राह्मी रख कर धार्मिक भावना ही नही, गौरव का भी अनुभव किया जाने लगा । कोषकारो, वैय्याकरणों और साहित्यिको ने विद्या अर्थ मे जितने शब्द चुने, उनमे ब्राह्मी को प्रमुखता मिली ।

ब्राह्मी शब्द का अनेक अर्थों मे प्रयोग हुआ, किन्तु सबसे अधिक लिप्यर्थ मे । अशोककालीन अधिकाश शिलालेख ब्राह्मी लिपि मे उत्कीर्ण हुए । उनके पूर्व के शिलालेखो की भी लिपि ब्राह्मी ही थी । उसकी सार्वभौमिकता और लोकप्रियता देख कर ही प्राचीन ग्रन्थकारो ने स्थान-स्थान पर उसको नमस्कार किया है । भगवती सूत्र का 'णमो बभीए लिवीए' इसका प्रमाण है ।

ब्राह्मी लिपि का नामकरण

इस लिपि के ब्राह्मी नाम पडने के सन्दर्भ मे कई मत अभिव्यक्त किये गये है । उनमे पहला है कि विश्व की अन्य वस्तुओ की भाँति ब्रह्मा या ब्रह्म ही इसके भी निर्माता है और इसी आधार पर इसका नाम ब्राह्मी पडा ।[2] दूसरा मत चीनी विश्वकोष फ़ा-वान-शु-लिन (६६८ ई) पर आधृत है । इसके अनुसार ब्राह्मी लिपि के निर्माता कोई ब्रह्मा नाम के आचार्य थे, उनके नाम से ही इसे ब्राह्मी कहा गया ।[3] इन दोनो मतो मे कोई मौलिक भेद नही है । एक मे लिपि का उद्भावक ब्रह्मा स्वय है—वह ब्रह्मा जिसे जगत्पिता कहते हैं और दूसरे मे एक आचार्य, जिसमे नियता की क्षमता होती है ।

तीसरा मत डॉ० राजबली पाण्डेय ने अभिव्यक्त किया है । उनके अनुसार वेद (ज्ञान) की रक्षा के लिए आर्यों ने इसका आविष्कार किया । वेद का दूसरा नाम ब्रह्म है । इसी आधार पर उसे ब्राह्मी सज्ञा प्राप्त हुई ।[4] कुछ विद्वान ब्राह्मण से ब्राह्मी का सम्बन्ध जोडते है । डा० व्हूलर का कथन है—"इसमें सदेह

---

१ आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू स्तोत्र, १/३-४.

२ सेक्रेड बुक्स ऑव ईस्ट-नारद स्मृति, २३ ५८ और मनु पर बृहस्पति का वार्तिक, २३ ३०४

३ देखिए चीनी विश्वकोष फा-वान-शुलिन फ्रेंच विद्वान कुपेरी चीनी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं ।

4. Indian Palaeography by Dr. R. B. Pandey, Page 35.

नही कि ब्राह्मी के प्राचीनतम उपलब्ध रूप विद्वान् ब्राह्मणो के द्वारा निर्मित हुए।[१]" डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी इस कथन का समर्थन करते हुए लिखा है, "ब्राह्मी लिपि के स्वरो और व्यञ्जनो की पर्याप्त सख्या एव उच्चारण, स्थान के अनुसार उसका विभिन्न वर्गों मे वर्गीकरण यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि इसके निर्माण में भाषा शास्त्र तथा व्याकरण मे निष्णात ब्राह्मणो का हाथ था।"[२] एक पाँचवा मत और है जो ब्रह्मदेश मे उत्पन्न होने के कारण इसे ब्राह्मी मानता है।

ब्रह्म और आचार्य से ब्राह्मीलिपि का उद्भावन एक भावना-मात्र है। जब ब्रह्म समस्त जगत का निर्माता है, तो लिपि का भी होगा ही। यह कोई शोध-खोज की बात नही है, एक धर्मनिष्ठ मचेतन है। वेद और ब्राह्मण एक ही सूत्र है। यह भी तो हो सकता है कि ब्राह्मी के आधार पर वेद को ब्रह्म और मनुष्य जाति के एक वर्ग को ब्राह्मण कहा गया। जहाँ तक ब्रह्म विद्या (आत्मविद्या) का सम्बन्ध है, वह ब्राह्मणो से पूर्व क्षत्रियो मे थी। यह ब्रह्मविद्या क्षत्रियो से ब्राह्मणो को प्राप्त हुई, इसे सभी बडे-बडे विद्वान मानते है।[3] इसी भाँति ब्राह्मण और सस्कृत को घनिष्ठ माना जा सकता हे, ब्राह्मण और प्राकृत को नही। ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम उद्धरण प्राकृत मे मिलते है, सस्कृत मे नही। सस्कृत मे भी पूर्व प्राकृत मौजूद थी। डॉ धीरेन्द्र वर्मा के प्रधान मम्पादकत्त्व मे प्रकाशित 'हिन्दी माहित्य कोष' मे लिखा है, "प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोग मे नही आ गई। अपने नैसर्गिक रूप मे वह वैदिक काल से पूर्व भी

---

१ George Buhler, Indische Palaeography, हिन्दी अनुवाद–भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ३८

२ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८०, मिलाइए–भारत मे लिपि विकास, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, गुणानन्द जुयाल, पृ० १८४

३ यथेय न प्राक्त्वत्त पुराविद्या ब्राह्मणान् गच्छति।
तस्मात्तु सर्वेष् लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभत्॥ छान्दोग्य० ५/३/७

"तत्रास्ति वक्तव्यम्—यथा येन प्रकारेण इय विद्या प्राक्त्वत्तो ब्राह्मणान् न गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्त तथा एतत् प्रसिद्ध लोके यत। तस्माद् पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेष क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेव अनया विद्यया प्रशासन प्रशास्तृत्व शिष्याणामभत् बभव। क्षत्रियपरम्परयैवेय विद्या एतावन्त कालमागता। तथाप्येतां अह तुभ्य वक्ष्यामि। त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति। अतो मया यदुक्त तत्क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै हि उवाच विद्या राजा।"

छान्दोग्य० ५/३/७ का शाकरभाष्य

और

"अथेद विद्येत पूर्वं न कस्मिश्चन् ब्राह्मण उवासताम्।"

बृहदारण्यक ६/२/८

विद्यमान थी। वैदिक भाषा को स्वय उस काल मे प्रचलित प्राकृत बोलियो का साहित्यिक रूप माना जा सकता है।"[1] इस संदर्भ मे प्राकृत महाकाव्य गउडवहो का कथन उल्लेखनीय है—

"सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ
एंति समुद्दं चिय णेंति सायरोओच्चिय जलाइं ॥"[2]

इसका अर्थ है कि जिस प्रकार जल समुद्र मे प्रवेश करता है और वाष्प बनकर पुन समुद्र से बाहर जाता है, उसी प्रकार प्राकृत से सब भाषाओ का उद्‌गम होता है और उसी मे सब भाषाएँ पुन समाहित हो जाती है। प्राकृत का यह व्यापक अर्थ है। भाषा का यही स्वच्छन्द रूप स्थानगत और काल गत विभिन्नताओ के कारण ५०० ई पूर्व से १००० ई तक प्राकृत और अप-भ्रश भाषाओ के रूप मे विकसित हुआ। उस काल मे प्राकृत लोकप्रिय भाषा बन गई थी, जैसा कि राजशेखर ने स्पष्ट किया है—"प्राकृत भाषा स्त्री के समान सुकुमार और सस्कृत भाषा पुरुष के समान कठोर है। वैय्याकरणो ने सम्भवत सकुचित अर्थ मे साहित्यिक प्राकृत का मूल आधार सस्कृत को माना है। यद्यपि यहाँ सस्कृत का आशय प्राचीन आर्यभाषा के स्वच्छन्द रूप मे विकसित वैदिक सस्कृत से लेना युक्तिसगत होगा, क्योकि सस्कृत तो स्वय ही लोकभाषा का सस्कार किया हुआ रूप था।"[3]

तो ब्राह्मी लिपि सम्बन्धित थी इस लोकभाषा प्राकृत से और ब्राह्मण सम्बन्धित था सस्कृत मे, अत ब्राह्मण के आधार पर ब्राह्मी नाम पड़ा, असगत है। सयुक्ताक्षर सस्कृत मे ही नही, प्राकृत मे भी थे। भाषा और व्याकरण की जानकारी ब्राह्मण को ही नही, श्रमण को भी थी। यहाँ तक कि आर्य वे ही कहलाते थे जो प्राकृत बोलते और लिपि के रूप मे ब्राह्मी का व्यवहार करते थे। एक जैन ग्रन्थ पण्णवणासुत्त मे लिखा है—

"से किं त भासारिया। भासारिया जे णं अद्धमागहाये भासाए भासति।
जत्थ वि य णं बंभी लिवि पवत्तइ।"[4]

अर्थ—भासारिया (भाषा के अनुसार आर्य) कौन कहे जाते है? भाषा के अनुसार आर्य लोग वे हैं, जो अर्धमागधी भाषा मे वार्तालाप करते हैं, लिखते-पढते

१ 'हिन्दी साहित्यकोष', प्रधान सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४६२
२ वाक्पतिराज, गउडवहो, श्लोक ९३ वाँ, डा अग्रवाल के 'प्राकृत विमर्श' मे उद्धृत, पृष्ठ ४.
३ "परुसा सक्कअबधा पाउअप्रबधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअ मिहतरं तेत्तिअ मिमाण॥"
कर्पूरमञ्जरी, १८
४. पण्णवणासुत्त–५६

हैं और जिनमे ब्राह्मी लिपि का व्यवहार होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कल्पसूत्र में लिखा है—पोराण अद्धमागहभासा नियय हवइ सुत्त, [१] अर्थात् जैन धर्म में प्राचीन सूत्र अर्द्धमागधी भाषा मे निबद्ध होते थे। यह निबन्धन ब्राह्मी लिपि मे होता था। यायावर जैन साधु देश-देश मे विहार करते थे, वहाँ की प्रचलित जनभाषा मे बोलते और वहाँ की भाषा मे ही ग्रन्थ-निर्माण करते थे। वह जनभाषा प्राकृत थी। प्राकृत एक रूप होते हुए भी देश-भेद से भिन्न रूप भी थी। नमि साधु ने काव्यालकार-टीका मे लिखा है—"मेघ निर्मुक्त जलमिवैकस्वरूप तदेव च देशविशेषात् सस्कारकरणाच्च समासादित विशेषसत् संस्कृताद्युत्तरविभेदान् आप्नोति।"[२] ऐसा ही एक वाक्य 'भारतीय विद्यानिबन्ध सग्रह' मे, 'सरस्वती कठाभरण' से सकलित है—"सा पुनर्जलपरम्परेवैक रूपापि तत्तद्देशादि विशेषात् सस्कारकरणाच्च भेदान्तरान् आप्नोति।"[३] इसका अर्थ है कि मेघो से छोडी जाने वाली जल परम्परा एक रूप होते हुए भी देश विशेष से भिन्नत्व को प्राप्त होती है, उनमे एक सस्कृत भी है। उनके अनुसार, "प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनुसस्कृतादीनि पाणिन्याव्याकरणोदित शब्द-लक्षणेन सस्करणात् सस्कृतमुच्यते।"[४] अर्थात् आदि मे सस्कृत थी, फिर सस्कृतादिक आईं, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार प्रचलित भाषा का सस्कार करने मे जो भाषा बनी, वह सस्कृत कहलाई। मम्कार के बाद सयुक्ताक्षर की सख्या वढ गई, जो पहले कम थी।

जहाँ तक ब्रह्मदेश के आधार पर ब्राह्मी लिपि के नामकरण का सम्बन्ध है, वह केवल कल्पना-जन्य और आनुमानिक है। वह देश कहाँ था? उसकी सस्कृति एव सभ्यता कैसी थी? उसकी भाषा कौन-सी थी? आदि प्रश्न अधूरे है। कोई प्रामाणिक हल नही है। केवल ब्रह्म नाम होने मात्र से, उसे ब्राह्मी का मूलाधार मान लिया जाये, उचित नही है। ब्राह्मी के नामकरण सम्बन्धी ठोस आधार जैन ग्रथो मे उपलब्ध होते है। आज तक उन पर भाषा विज्ञान-वेत्ताओ की दृष्टि नही गई है। उनके कतिपय उद्धरण मै यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगा।

हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग मे श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने लिखा था, "ऋषभ-देव ने ही सम्भवत. लिपिविद्या के लिए कौशल का उद्भावन किया। ऋषभ-देव ने ही सम्भवत ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।"[५] यद्यपि श्री वसु महोदय अवश्य ही जैन ग्रथो के अध्ययन

---

१ कल्पसूत्र–४/२८७, मिलाइए–अववाइअसुत्त, पारा–५६

२ नमिसाधुकृत काव्यालकारटीका, २/१२

३ देखिए सरस्वतीकठाभरण, आजडकृत व्याख्या, भारतीयविद्यानिबधसग्रह, पृष्ठ २३२

४ नमिसाधुकृत काव्यालकार टीका, २/१२.

५. नगेन्द्रनाथवसु सम्पादित, हिन्दी विश्वकोश, प्रथम भाग, पृष्ठ ६४

से इस परिणाम पर पहुँचे होंगे, किन्तु उसकी सम्पुष्टि उन्होंने नही की। ऋषभदेव जैनो के आदि तीर्थंकर थे। उनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर श्रीमद् भागवत् तक अविच्छिन्न रूप से अजैन ग्रथो मे भी मिलता है। मैंने उनका विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ 'भरत और भारत' मे किया है। यह सत्य है कि उनका जब जन्म हुआ, भोगभूमि समाप्त हो चुकी थी—कल्पवृक्षो का युग बीत गया था। वह कर्मभूमि का प्रारम्भ था। धरा और धरावासियो की नई समस्याएँ थी, नये हल चाहिए थे। ऋषभदेव ने निष्ठा, प्रतिभा और श्रम-पूर्वक उनका समाधान किया। उन्होने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षड्विध जीवनोपायो का उपदेश देकर प्रजा की समृद्धि का मार्ग दिखाया। वे प्रजापति कहलाये। दूसरी ओर उन्होने आध्यात्मिक साधनो को भी पूर्णता दी।[1] अपने कर्मफल को अपने समाधितेज से भस्म कर दिया।[2] कर्म-मल के हट जाने से वे विशुद्ध आत्मब्रह्मरूप हो गये। उन्होने एक ओर लोक को सफल बनाने का मार्ग प्रशस्त किया, तो दूसरी ओर आत्म-साधना का भी रास्ता दिखाया और दोनो की समन्वयात्मक पूर्णता को जीवन का लक्ष्य बनाया।[3]

ऋषभदेव ने जहाँ एक ओर कृषि करना सिखाया, व्यापार का ढग बताया, नाना शिल्पो मे दीक्षित किया और शस्त्र-विद्या का ज्ञान कराया, वहाँ लिपि और अक की प्रारम्भिक शिक्षा भी उन्होने दी। ऋषभदेव की प्रथम महाराज्ञी नन्दा से ज्येष्ठ पुत्र भरत और पुत्री ब्राह्मी का युगल रूप मे जन्म हुआ था।[4] इसी भाँति उनकी दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली और सुन्दरी युगल रूप मे जन्मे थे।[5] इनके अतिरिक्त सुनन्दा से उनके छयानवे पुत्र और हुए।[6] सभी चरम शरीरी थे। भगवान् ने अतिशय बुद्धि से सम्पन्न अपने समस्त पुत्रो के साथ-साथ दोनो पुत्रियो-ब्राह्मी और सुन्दरी को भी अक्षर, चित्र, सगीत और गणित का ज्ञान कराया था। जिनसेन ने 'हरिवश पुराण' मे लिखा है—

> "अक्षरालेख्यगन्धर्व गणितादिकलार्णवम्।
> सुमेधाभ्यां कुमारीभ्यामवगाहयति स्म ॥"[7]

एक दिन राज-सभा मे ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो पुत्रियाँ अपने पिता आदिनाथ के समीप आईं। उन पुत्रियो के वक्षस्थल पर रत्नमाला पडी हुई थी, कमर

---

१ स्वयम्भू स्तोत्र—१/३
२ वही—१/४
३ भरत और भारत, पृष्ठ ३१
४ जिनसेन, हरिवशपुराण, ६/२१
५ वही, ६/२२
६ वही, ६/२३.
७ वही, ६/२४

पर कर्धनी का मृदु शब्द हो रहा था, उनके नेत्र खजनपक्षी के समान थे और उनके अगो से स्वर्णरेणु के समान काति विकीर्ण होती थी ।[1] उन दोनो के विनय-शील आदि गुण को देखकर जगद्गुरु भगवान् ऋषभदेव ने विचार किया कि यह समय इनके विद्या ग्रहण का है, अत उन्होने दोनो को सिद्धमातृका सिखाने के साथ-साथ गणित, कोश, पद-विद्या, छन्द-अलकार शास्त्र पढाये । पुरुदेव चम्पू मे लिखा है—

"तदनुतयोर्विनयशीलादिक विलोक्य जगद्गुरुर्विद्या-स्वीकरणकालोऽय इति मत्वा ब्राह्मी-सुन्दरीभ्या सिद्धमातृकोपदेश पुर सर गणित स्वयभुवाधानानि पदविद्याछन्दो विचित्यलकार शास्त्राणि च ।"[2]

इस सन्दर्भ मे भगवज्जिनसेनाचार्य का महापुराण दृष्टव्य ह । उसके सोलहवे पव मे ब्राह्मी-सुन्दरी और उनके विद्यारम्भ का विशद विवेचन ह । वे दोनो सौदर्य और शील की तो मानो मूर्तिमती प्रतिमाएँ थी । उन्हे देखकर सोचना होता था कि वे नागकन्याएँ है अथवा दिक्कन्याएँ, वे सौभाग्य देवियाँ है अथवा लक्ष्मी सरस्वती की अधिष्ठातृ देवियाँ अथवा उनका अवतार ही । उनकी आकृति नाना कल्याणोद्भवा है । दर्शक को विस्मयकारिणी आनन्दानुभूति होती है ।[3] एक दिन दोनो ने भगवान् के समीप जाकर विनय-पूर्वक प्रणाम किया । दोनो को प्रणत और नतमस्तक देख प्रभु ने प्रीति से उन्हे अक मे बिठाया और उनका सिर सूंघते हुए बोले—तुम दोनो की यह अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाय तो सफल हो जायेगा । अत हे पुत्रियो ! तुम विद्या-ग्रहण करने मे प्रयत्न करो, यही काल है—

"प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तके ।
प्रीत्या स्वमङ्कमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्राय च मस्तके ॥९४॥
इद वपुर्वयश्चेदम् इदं शीलमनीदृशम् ।
विद्यया चेद्विभूषयेत् सफल जन्म युवामिदम् ॥९७॥
तद्विद्या ग्रहणे यत्न पुत्रिके कुरुत युवाम् ।
तत्सग्रहणकालोऽय युवयोर्वर्ततेऽधुना ॥१०२॥"[4]

---

१ "उद्भिन्नस्तनकुड्मले मृदुरणत्काञ्चीकलापाञ्चिते ।
मिजन्मजुलनूपुरेद्धचरणन्यासे चकोरेक्षणे ।
कानिकाचनरेणुराजिसदृशीमगे किरन्त्यौ पुरो ।
ब्राह्मी समदि सुन्दरी च त इमे प्राप्ते समीप गुरो ॥"
अर्हद्दास, पुरुदेवचम्पू, ७/१

२ वही, ७, पृ० १४२

३ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, भाग १, १६/८०-८२

४ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/९४–१०२

ऐसा कहकर उन्होंने पुनः पुन आशीर्वचन के साथ, स्वर्णपट्ट पर, अपने चित्त मे स्थित श्रुतदेवता का पूजन कर स्थापित किया, फिर दोनो हाथो से अ, आ, आदि वर्णमाला लिखकर उन्हे लिपि लिखने का उपदेश दिया और अनुक्रम से इकाई, दहाई आदि अको के द्वारा उन्हे सख्या का ज्ञान भी कराया।

"इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्था श्रुतदेवीं सपर्यया ॥१०३॥
विभु.करद्वयेनाभ्या लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपिं सख्या संस्थान चाङ्कैरनुक्रमात् ॥१०४॥"[1]

तीर्थंकर देव ने दोनो हाथो मे-से दाहिने हाथ से लिपि ज्ञान और बाये हाथ से अकज्ञान करवाया। यही कारण है कि लिपि बाये से दायी ओर और अक दाये से बायी ओर चलते है। भगवान् के मुख मे जो अक्षरावली निकली, उसमे 'सिद्ध॰ नम' मगलाचरण है और व्यञ्जन पदो मे अ, आ, इ, ई आदि मात्राएँ मिली हुई है। उसमे अकार से लेकर हकार पर्यन्त शुद्ध मुक्तावली के समान वर्ण हैं। इन वर्णों के दो भेद है—स्वर और व्यञ्जन। ये अ से ह पर्यन्त ६४ अयोगवाह है। इसमे अनेक बीजाक्षरो से व्याप्त सयुक्ताक्षर है। इस अक्षर विद्या को बुद्धिमती ब्राह्मी ने और इकाई-दहाई रूक अक विद्या को सुन्दरी ने धारण किया। वाङमय के बिना, न तो कोई शास्त्र है, न कोई कला है, इसीलिए तीर्थंकर ने सब से पहले उन पुत्रियो के लिए वाङमय का उपदेश दिया।

"ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्।
'सिद्ध नम' इति व्यक्तमङ्गला सिद्धमातृकाम् ॥१०५॥
अकारादिहकारान्ता शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वर व्यञ्जन भेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ॥१०६॥
अयोगवाहपर्यन्ता सर्वविद्यासु सन्तताम्।
संयोगाक्षरसम्भूति नैकबीजाक्षरैश्चिताम् ॥१०७॥
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥१०८॥
न बिना वाङ्गमयात किञ्चिदस्ति शास्त्रंकलापि वा।
ततोवाङ्गमयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥१०९॥"[2]

ब्राह्मी और सुन्दरी को समस्त विद्याएँ पदज्ञानरूपी दीपिका से प्रकाशित हुई और अपने आप ही स्वाभाविक सहज रूप से परिपक्व अवस्था को प्राप्त

१ वही, १६/१०३–१०४
२ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, भाग १, १६/१०५-३.

हो गईं। इस प्रकार गुरु अथवा पिता से समस्त विद्या-प्राप्त दोनो पुत्रियाँ साक्षात् सरस्वती का अवतार-सा प्रतिभासित होने लगी।[१]

भगवती सूत्र एक प्राचीनग्रथ है। उसमे अनेक प्राचीन उद्धरण है। विद्वानो ने उसकी प्राचीनता असदिग्ध रूप से स्वीकार की है। उसमे तीर्थंकर ऋषभ-देव के सन्दर्भ भी सकलित हैं। एक स्थान पर लिखा है कि ऋषभदेव ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपिज्ञान और बाँये हाथ से सुन्दरी को अक ज्ञान कराया—

> **"लेहं लिवीविहाण जिणेण बंभीए दाहिण करेण।**
> **गणिय संखाण सुरन्दरीए वामेण उवइटठं॥"**[२]

इसकी संस्कृत व्याख्या अभिधान राजेन्द्र कोश के 'उसभ' प्रकरण मे इस प्रकार दी हुई है—

"लेखन लेखो नाम सूत्रे नपुसकता प्राकृतत्त्वाल्लिपिविधान तच्च जिनेन भगवता वृषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमत एव तदादित आरभ्य वाच्यते। गणित नौमकद्वित्र्यादि सख्यान तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते।"[३]

इमी प्रकरण मे एक अन्यत्र स्थान पर लिखा है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से 'ब्राह्मी' को लिपिज्ञान कराया, तो उसी के नाम पर लिपि को भी 'ब्राह्मी' कहने लगे और 'ब्राह्मी लिपि' नाम प्रचलित हो गया। वह उल्लेख है, "लेखो लिपिविधान तद्दक्षिण हस्तेन जिनेन ब्राह्म्या दर्शितम् इति। तस्माद् ब्राह्मी नाम्नी सा लिपि।"[४] इमी प्रकार भावसेन त्रैविद्य ने 'कातन्त्ररूपमाला' मे लिखा है—"तेन ब्राह्मै कुमार्यै च कथित पाठहेतवे। कालापक तत्कौमार नाम्ना शब्दानुशासनम्।"[५] यहाँ तेन से तात्पर्य श्री ऋषभदेव से है, जैसा कि उन्होने अन्त मे लिखा है—"तस्मात् श्री ऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम्।"[६] अभिधान राजेन्द्रकोश के पाँचवे भाग मे, जहाँ पुस्तकाक्षरविन्यासरूप लिपि और उसके १८ भेदो की बात लिखी है, वहाँ ही नाभेयजिन अर्थात् नाभि के पुत्र ऋषभ-जिन की स्वसुना ब्राह्मी के नाम पर इस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पडा, ऐसा भी लिखा है। वह लेख है—

---

१ वही, १६/११६, ११७

२ देखिए भगवती सूत्र, उद्धृत—अभिधानरजेन्द्रकोष, भाग २, पृष्ठ ११२६

३ अभिधानराजेन्द्रकाश, 'उसभ' प्रकरण, भाग २, पृष्ठ ११२६.

४ देखिए वही

५ श्री भावसेन त्रैविद्य, कातन्त्ररूपमाला, १/४

६ वही, १।७

"लिपिः पुस्तकाऽऽदौ अक्षरविन्यास· सा चाष्टादशप्रकारापि श्रीमन्नाभेय-जिनेन स्वसुताया ब्राह्मी नामिकाया दर्शिता, ततो ब्राह्मी नाम इत्यभिधीयते।"[१]

'आवश्यक नियुक्ति भाष्य' मे दाहिने हाथ से ब्राह्मी को लिपिज्ञान कराये जाने की बात का उल्लेख प्राप्त होता है। उसमे लिखा है—"लहे लिविवीहाण जिणेण बभीइ दाहिण करेण।"[२] आवश्यक चूर्णि के पृष्ठ १५६ पर लिखा है कि इसी ब्राह्मी पुत्री के नाम पर लिपि का नाम भी ब्राह्मी पडा। ऐसी ही बात समवायागसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य मे भी कही गई है। वहाँ तो ब्राह्मी लिपि के भेदो का विवेचन भी प्राप्त होता है—ऐसा विवेचन जो बौद्धो के ललित बिस्तर के अतिरिक्त, अन्यत्र देखने को नही मिलता।

अपभ्रश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' की रचना की थी। यह ग्रथ डा पी एल वैद्य के सम्पादन मे, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रथमाला, बम्बई से १९३७-४१ ई मे निकल चुका है। इसे 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकारु' भी कहते है। इसमे ६३ शलाका पुरुषो के चरित्र निबद्ध है। अत इसमे तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र-पौत्रादिको का भी विवेचन है। प नाथूराम प्रेमी ने पुष्पदन्त का साहित्यिक काल शक सवत् ८८१ से ८९४ तक माना है। उन्होने लिखा है—"शक सवत् ८८१ मे पुष्पदन्त मेलपाटी मे भरत महामात्य से मिले और उनके अतिथि हुए। इसी साल उन्होने महापुराण शुरू करके उसे शक सवत् ८८७ मे समाप्त किया।"[3] पुष्पदन्त विदर्भान्तर्गत रोहड़-खेड गाँव के रहने वाले थे। आज भी यह गाँव धामण गाँव से खामगाव के मार्ग मे आठवे मील पर अवस्थित है।[४]

इस ग्रथ मे भी ब्राह्मी वाला उल्लेख है। भगवान् ऋषभदेव ने दाहिने और बाये हाथ से ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो कन्याओ को अक्षर और गणित की शिक्षा दी। वहाँ लिखा मिलता है—

"भावे णमसिद्ध पभणेप्पिणु दाहिणवामकरेंहि लिहेप्पिणु।
दोहिं मि णिम्मलकंचन वण्णह अक्खरगणियइ कण्णह॥" [५]

अर्थ—भावपूर्वक सिद्ध को नमस्कार कर, भगवान् ऋषभदेव ने दोनो ही निर्मल कचनवर्णी कन्याओ को, दाये और बाये हाथ से लिखकर अक्षर और गणित बताया।

---

१ अभिधानराजेन्द्रकोश, पचम् भाग, पृष्ठ १२८४

२ आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य, उद्धृत—अभि राजेन्द्रकोश, भाग ५, पृ १२८४

३ पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २५०

४ वही, पृष्ठ २२७-२२८.

५ पुष्पदन्त, महापुराण, ५/१८—प्रथम दो पक्तियाँ.

इसी सदर्भ को आगे बढाते हुए महाकवि पुष्पदन्त ने लिखा है—

"अत्थें सद्देण वि सोहिल्लउ गद्दु अगद्दु दुविहु कव्वुल्लउ ।
सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ ।।
सत्थक लासिउ सग्गणिबद्धउ पाउड अक्खाइय कहरिद्धउ ।
अणिबद्धउ गाहाइउ अक्खिउ गेयवज्जलक्खणु वि णिरिक्खउ ।।
बंभे सइ वक्खाणिउ जं जिह कुंअरी जुयलें बुज्झिउ तं तिह ।"[1]

अर्थ—अर्थ और शब्द मे सुशोभित गद्य और अगद्य (पद्य) दो प्रकार का काव्य आलाप और सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश की छन्दरचना का प्रशसा-योग्य उपाय बताया। उन्होने शास्त्र कलाश्रित सर्ग-निबन्धन, कथाप्राभृत की रचना, अनिबद्ध गाथा और गीत-वाद्य के लक्षण भी कहे। इस प्रकार स्वय ब्रह्म (ऋषभ-देव) द्वारा जिसका जैसा व्याख्यान किया गया, युगल कुमारियो ने उसको वैसा ही समझ लिया।

पुष्पदन्त ने जो गद्य-अगद्य काव्य, विविध भाषाओ की छन्द रचना, सर्ग-निबन्धन, कथा प्राभृत, गाथा और गीतवाद्य के सम्बन्ध मे कहा, वह सब लिपि के सन्दर्भ के अनुकूल ही था। भगवान् ने उसी प्रवाह मे यह सब कुछ अपनी पुत्रियो को सिखाया और पुत्रियाँ इतनी प्रतिभावान् थी कि भगवान् ने जो कुछ जैसा बताया, उन्होंने वैसा ही ग्रहण कर लिया—आत्मसात् किया, स्मरण रक्खा और साधना से और अधिक विस्फुरित किया। इस पर डॉ देवेन्द्रकुमार जैन का निष्कर्ष द्रष्टव्य है, "ब्राह्मी और सुन्दरी (ऋषभ की पुत्रियो) को काव्य की शिक्षा विशेष रूप से दी गई—सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श, छन्द, शास्त्र-निबद्ध कलाएँ, सर्गबद्ध गाथाएँ और गीत-वाद्य। इसमे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि राजकुमारियो को उस युग मे काव्य की शिक्षा का विशेष महत्त्व था। सस्कृत काव्य के अतिरिक्त लोकभाषा का साहित्य भी उन्हे पढाया जाता था। इस काव्य के कई भेद थे। 'गणेशायनम' की जगह 'ओ नम सिद्धानाम्' शिक्षा के प्रारम्भ मे कहा जाता था।"[2]

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'त्रिषष्ठशलाका पुरुष चरित्र' मे भगवान् ऋषभदेव के द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी का अक्षर और गणित की शिक्षा दिये जाने की बात लिखी है। आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि स ११४५ और दिवाव-सान वि स १२२९ माना जाता है।[3] गुजरात के महाराज सिद्धराज और कुमारपाल के समय मे वे जीवित थे। दोनो के गुरु थे और अपने युग के

१ वही, ५/१८—मध्यवर्ती पाँच पक्तियाँ
२ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, अपभ्रशभाषा और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६५, पृ० २७७
३ डॉ० हरवश कोछड, अपभ्रशसाहित्य, पृष्ठ ३२१–२२

अत्यधिक प्रतिष्ठित और प्रभावशाली साधु थे। उनका सिद्धहेमव्याकरण आज भी विद्वानो के आकर्षण का विषय है। कोषग्रथो मे 'अभिधानचिन्तामणि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होने ही 'त्रेसठशलाका पुरुष चरित्र' का निर्माण किया था। उनका कथन है—

> "अष्टादशलिपि ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना।
> दर्शयामास सव्येन सुन्दर्यां गणितं पुनः ॥"[१]

इसका अर्थ है कि भगवान् ने ब्राह्मी को अठारह लिपियो का ज्ञान दाये (अपसव्य) हाथ से कराया और सुन्दरी को बाये हाथ से गणित (अक ज्ञान) की शिक्षा दी।

आचार्य दामनन्दि के 'पुराणसार सग्रह' मे आदिनाथ चरित भी सगृहीत है और उसमे तीर्थंकर ऋषभदेव, उनके पुत्र-पुत्रियो और उनकी शिक्षा-दीक्षा का विवेचन है। आचार्य दामनन्दि के समय, स्थान और गुरु-परम्परा का कोई परिचय नही मिलता। 'पुराणसार सग्रह' के सम्पादक डॉ गुलाबचन्द चौधरी ने अपनी भूमिका मे लिखा है, "पुराणसार सग्रह' के अध्ययन से भी बहुत थोडी सामग्री उनके परिचय के लिए मिली है। उन्होने अपने पुरुदेव चरित (आदिनाथ चरित) के पचम् सर्ग के ५० वे श्लोक मे स्वय को 'प्रवर विनयनन्दि-सूरिशिष्य' कहा है, अर्थात् वे आचार्य विनयनन्दि के शिष्य थे। आचार्य दामनन्दि के गुरु विनयनन्दि के सम्बन्ध मे भी हमे कुछ ज्ञात नही और न उनके नाम का उपलब्ध सूचियो से कुछ पता लगता है।"[२] एक दूसरे स्थान पर डॉ गुलाबचन्द ने आचार्य दामनन्दि को देवसघ का आचार्य माना है। उनका आधार है वर्द्धमान चरित की प्रथम सर्गान्त प्रशस्ति। उसमे लिखा है— "वर्धमान चरिते—देवसघस्य कृतौ प्रथम सर्ग।"[३] देवसघ दक्षिणभारत के दिगम्बर मूलसघ के चार भेदो मे से एक है। इससे स्पष्ट है कि वे दाक्षिणात्य थे। दक्षिण मे ही कही के रहने वाले थे। चतुर्विंशति पुराण इनका दूसरा ग्रथ है, इसमे चौबीस तीर्थंकरो के अतिरिक्त महापुरुषो का भी विवेचन है। राइस महोदय ने भूलवशात् ही पुराण सार सग्रह और चतुर्विंशति पुराण को एक मान लिया था। इस दूसरे ग्रथ मे भी आचार्य दामनन्दि के जीवन पर कोई प्रकाश नही पडता।

आचार्य दामनन्दि ने 'आदिनाथ चरित' के तीसरे सर्ग मे सम्राट ऋषभदेव के सौ पुत्रो और दो पुत्रियो के उत्पन्न होने की बात लिखी है। साथ ही यह

---

१ हेमचन्द्राचार्य, त्रेसठशलाकापुरुषचरित, १/२/६६३

२ आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसग्रह, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी-सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८

३ देखिए वही, पृष्ठ ६

भी लिखा है कि भगवान् ने दायें हाथ से ब्राह्मी को अक्षरज्ञान और बायें हाथ से ब्राह्मी को अकज्ञान कराया। उनका कथन है—

"पुत्राणां शतमेकोनं सुतां चैकां यशस्वतीम् ।
सुषुवेबाहुबलिन सुनन्दा सुन्दरीमपि ।।१३।।
अक्षराणि विभु ब्राह्म्या अकारादीन्यबोचत् ।
वामहस्तेन सुन्दर्यां गणित चाऽप्यदर्शयत् ।।१४।।"[1]

इसका अर्थ है—ऋषभदेव की पत्नी यशस्वती ने एकोनशत (निन्यानवे) पुत्रो को और एक पुत्री (ब्राह्मी) को जन्म दिया तथा सुनन्दा (दूसरी पत्नी) से बाहुबलि और सुन्दरी उत्पन्न हुए। भगवान् ने ब्राह्मी को अकारादि अक्षर (दायें हाथ से) सिखाये और सुन्दरी को बाये हाथ से गणित विद्या (अक ज्ञान) का दर्शन कराया।

डॉ नेमिचन्द्र जैन ने 'सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान' मे एक शत्रुञ्जय काव्य का उल्लेख किया है। उसमे लिखा है कि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठपुत्र भरत को ७२ कलाएँ, बाहुबलि को गज, अश्व, स्त्री और पुरुष के लक्षण तथा पुत्री सुन्दरी को गणित का ज्ञान कराया। साथ ही, उन्होने अपनी दूसरी पुत्री ब्राह्मी को अपसव्य (दाये) हाथ से अठारह लिपियो की शिक्षा दी। लेखक ने शत्रुञ्जय काव्य मे लिखा है—

अध्यजीगपदीशोऽपि, भरतं ज्येष्ठनन्दनम् ।
द्वासप्ततिकलाखण्डं, सोऽपिबन्धूस्निजान् परान् ।।
लक्षणानि गजाश्वस्त्रीपुंसामीशस्त्वपाठयत् ।
सुतं च बाहुबलिन सुन्दरीं गणितं तथा ।।
अष्टादशलिपीर्नाथो दर्शयामास पाणिना ।
अपसव्येन स ब्राह्म्या ज्योतिरूपा जगद्धिता ।।[2]

अर्थ—भगवान् ने अपने ज्येष्ठनन्दन भरत को बहत्तर कलाएँ सिखाईं और फिर उसने अपने अन्य भाइयो को। भगवान् ने अपने ही दूसरे पुत्र बाहुबलि को गज, अश्व, स्त्री और पुरुष के लक्षण तथा सुन्दरी को गणित पढाया। उन्होंने ससार का हित करने वाली और ज्योति रूपा अठारह लिपियाँ ब्राह्मी को दाहिने हाथ से सिखाईं।

---

१. आदिनाथ चरित, तीसरा सर्ग, १३, १४, पुराण सारसंग्रह में संकलित, पृष्ठ ३६.

२ शत्रुञ्जय काव्य, ३/१२९-१३१, 'सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान', पृष्ठ ५६१

भरत को ७२ कलाओं की शिक्षा भगवान् ऋषभदेव ने दी और ब्राह्मी को लिपि ज्ञान कराये जाने की बात 'पद्मानन्द काव्य' में भी देखने को मिलती है। वहाँ लेख की परिभाषा भी दी गई है। उसमे लिखा है कि सुन्दर और स्पष्ट लिपि लिखने को लेख कहते हैं। उसका उद्देश्य भाव और विचारो को अभिव्यञ्जित करना है।[1]

अनगारधर्मामृत टीका के रचयिता प आशाधर थे। पीछे के ग्रन्थकर्त्ताओ ने उन्हे सूरि और आचार्य-कल्प माना है। वे गृहस्थ थे, मुनि नही, किन्तु उनका पाण्डित्य और विद्वत्ता सर्वजन-विश्रुत थी। उन्होंने नालछा के नेमि-चैत्यालय मे बैठकर, ३५ वर्ष तक एकनिष्ठ साहित्य-साधना की। उन्होंने उस काल की सरस्वती रूपा धारानगरी के शारदा-सदन मे व्याकरण और न्याय शास्त्र का अध्ययन किया था।[2] उनके सम्बन्ध मे प नाथूराम प्रेमी का कथन है, "उनकी प्रतिभा और पाडित्य केवल जैन शास्त्रो तक ही सीमित नही थी, इतर शास्त्रो मे भी उनकी गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओ मे यथास्थान सभी शास्त्रो के उद्धरण दिखाई पडते हैं और इसी कारण अष्टागहृदय, काव्यालकार और अमरकोष जैसे ग्रथो पर टीका लिखने के लिए वे प्रवृत्त हुए।"[3] उन्होंने लगभग बीस ग्रन्थो की रचना की। उन्ही मे एक 'अनगार धर्मामृत टीका' भी है। उन्होने जो कुछ लिखा, उसका सार है कि ब्राह्मी एक देवी है—सरस्वती का अवतार। उनकी कृपा से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ की शिक्षा प्राप्त हो सकती है। उत्तम भावनाओ की शिक्षा ग्रहण करनी है, तो ब्राह्मी की भक्ति करो। प आशाधर ने लिखा है—

> "मा भूत्कोपीह दुखी भजतु जगद्सद्धर्मशर्मेतिमैत्री,
> ज्यायोहृत्सेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम् ।
> दुखाद्रक्षेयमार्त्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा,
> काऽव्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपवाप्त्युद्यता भावयन्तु ॥"[4]

अर्थ—प्राणिमात्र मे दुखो के उत्पन्न न होने की आकाक्षा, मैत्री, गुणवानो मे हर्षरूप मनोराग, प्रमोद, दुखियो मे उदार बुद्धि कारुण्य और अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्तियों मे समता माध्यस्थ भावना है। हे ब्राह्मी ! मुझे आप ऐसी ही शिक्षा दें कि मैं इन भावनाओ मे तत्पर रहूँ।

---

१. पद्मानन्द काव्य, बडौदा, सन् १९३२ ई, १०/७६.
२. पं नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३४३.
३ वही, पृष्ठ ३४२
४. पं० आशाधर, अनगारधर्मामृत, ४/१५१.

ब्रह्मचारी मनसुखसागर ने अपने 'भाषा आदिपुराण' मे भरत की बहिन ब्राह्मी का उल्लेख किया है और लिखा है कि तीर्थंकर वृषभदेव ने अक्षर लिपि का ज्ञान कराया। ब्राह्मी के कारण ही वह अक्षरलिपि ब्राह्मी लिपि कहलाई। उनका कथन है—

"भरतादिक ब्राह्मी सुता, सब जन को सुखदाय।
अंक लिखे ज्योतिष गतसार, ब्राह्मी सुन्दरि निज मन धार।।"[१]

ब्राह्मी का पूज्यभाव—

उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि ब्राह्मी (ऋषभदेव की पुत्री) के नाम पर लिपि का नाम ब्राह्मी पडा। किसी देश, भाषा, स्थान, या वस्तु का नाम उसी व्यक्ति के नाम पर रखा जाता है, जिसने अपनी साधना से लोकख्याति प्राप्त की हो। चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष इसलिए पडा कि उन्होने प्रजाओ का भरण-पोषण अपने दिल की गहराइयो से किया। प्रजा की चिन्ता उनकी अपनी चिन्ता थी।[२] उनके भी पूर्व महाराजा नाभि के नाम पर इस देश का नाम अजनाभवर्ष था।[3] उन्होने भोगभूमि से कर्मभूमि मे बदलते युग की समस्याओ को साधा था। इससे प्रजा के भयावह कष्ट दूर हुए थे और उन्हे राहत की सास मिली थी। अभूतपूर्व निष्ठा, पौरुष और प्रतिभा से किया गया कोई भी कार्य अपने कर्त्ता को अमर बना देता है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने भी लिपि के मार्ग को इतना समुन्नत और प्रशस्त किया कि वह लिपि उन्ही के नाम मे ख्याति-प्राप्त हुई। ब्राह्मी साधिका थी, उन्होने योग साधा था, समाधि लगाई थी और उसका परिणाम थी ब्राह्मी लिपि। आगे चल कर, यह लिपि भारतीय लिपियो की जन्मदात्री बनी।[४] हम उसके चरणो मे शिरसावनत है।

ब्राह्मी के प्रति भारतवासियो के हृदय मे सदैव श्रद्धा का भाव रहा है। वे समय-समय पर अपने श्रद्धा-विगलित भाव-सुमन उसके चरणो मे अर्पित करते रहे है। भगवती सूत्र-जैसे प्राचीन ग्रन्थ मे सूत्रकार ने ब्राह्मी लिपि को नमस्कार करते हुए लिखा है, "णमो बभीए लिवीए," अर्थात् ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो। इस सूत्र पर भाष्यकार ने कतिपय महत्त्वपूर्ण पक्तियाँ लिखी है—"भावश्रुत हि द्रव्यश्रुत प्रति हेतु। अक्षरात्मक च तद् द्रव्यश्रुत। श्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारि-

---

१ मनसुखसागर, हिन्दी आदिपुराण, १४२, पृ० १४६

२ देखिए मेरा ग्रन्थ 'भरत और भारत', आमुख, पृष्ठ ६-७, मिलाइए—"विस्वभरन पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।" रामचरित मानस १/१९७/७

३ मार्कण्डेय पुराण सास्कृतिक अध्ययन, डा वासुदेव शरण अग्रवाल सम्पादित, पादटिप्पण १, पृ० १३८

४ सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ, कन्नड साहित्य का इतिहास, पृ० ६.

त्वाद् द्रव्यश्रुत नमस्कुर्वन् आह सूत्रकार —ब्राह्म्यै लिपये नम । एषा हि द्रव्यश्रुत रूपा ब्राह्मी लिपिरित्यभिधीयते । अत्र ब्राह्मीलिपिरिति शब्दद्वयी निर्वचनमपेक्षते । तद्यथा—'लेह लिवी विहाण जिणेण बभीइ दाहिणकरेण,' अयमर्थ —'लेखो लिपिविधान तद्दक्षिणहस्तेन जिनेन ब्राह्म्या दर्शितमिति ।' तस्माद् ब्राह्मी नाम्नी सा लिपि ।"[1] इसका अर्थ है—भावश्रुत ही द्रव्यश्रुत के प्रति हेतु है, अर्थात् कारण-रूप है । द्रव्यश्रुत अक्षरात्मक होता है—अक्षरो मे लिखे गये ग्रन्थ द्रव्यश्रुत कहलाते है । अतएव द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान का अत्यधिक उपकारी है । उसे नमस्कार करते हुए सूत्रकार का कथन है—ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो । यहाँ 'ब्राह्मी लिपि' ये दो शब्द विवेचन की अपेक्षा रखते है । लिपि विधान लेख को कहते है, वह जिनेन्द्र भगवान् ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को सिखाया था । इसी कारण उस लिपि का नाम ब्राह्मी पडा ।

अभिधान राजेन्द्रकोश मे एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किया गया है। उसमे देश, शास्त्र और गुरु की परिचायिका ब्राह्मी लिपि और ब्रह्म रूप अर्हत्प्रतिमा को एक ही बताया है । दोनो मे कोई अन्तर नही है । दोनो पूज्य है । वह श्लोक है—

> "लुप्तं मोहविषेण कि किमु हतं मिथ्यात्वदम्भोलिना,
> मग्न कि कुनयावटे किमु मनोलीन नु दोषाकरे ।
> प्रज्ञप्तौ प्रथम नता लिपिमपि ब्राह्मीमनालोकयन्,
> वन्द्यार्हत्प्रतिमा न साधुभिरिति ब्रूते यदुन्मादवान् ।।"[2]

अर्थ —श्री अर्हन्तदेव की प्रतिमा का वन्दन साधुओ को नही करना चाहिए, ऐसी असत् दुरुक्ति कहने वाले को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि क्या तुम्हारा मन मोहविष पीकर काल-कवलित हो गया है ? क्या मिथ्यात्वरूपी बज्र ने उस पर आघात किया है ? क्या कुनीति के गहन गर्त्त मे गिर गया है ? क्या उसे दोष-समूह ने आत्मसात् कर लिया है ? अन्यथा 'णमो बभीए लिविए' कहते हुए आचार्यो ने देव-शास्त्र आदि की परिचायिका वर्णमयी लिपि तक को नमस्कार किया है, वह स्वय ब्रह्मरूप अर्हत्प्रतिमा को अवन्दनीय कहने वाले तुम उन्मत्त तो नही हो ? अर्थात् तुम्हारा वैसा कथन उन्मत्त प्रलाप-मात्र है ।

ब्राह्मी ने अपना समूचा जीवन वर्णमयी लिपि की साधना मे लगाया । अन्त मे वह अपने पिता (ऋषभदेव), जो प्रव्रजित होकर तीर्थंकर बने, से दीक्षा लेकर

---

१ भगवतीसूत्र, सस्कृत व्याख्या, श० १, श० १, उ०

२ अभिधानराजेन्द्रकोश, पचम भाग, पृष्ठ १२०६.

आर्यिका बनी। उसने तप किया और आर्यिकाओ मे अग्रणी हो गई। अमरों ने उसकी पूजा की। महापुराण मे इसका उल्लेख है—

**"भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः॥"[१]**

अर्थ—भरत की बहन ब्राह्मी ने गुरु के अनुग्रह से दीक्षा ली और कुछ समय मे ही आर्यिकाओ मे गणिनीपद को प्राप्त हो गई। अमरो से पूजित बनी।

ऐसा ही एक उल्लेख आचार्य दामनन्दि के 'पुराणसार सग्रह' मे भी प्राप्त होता है। उसमे लिखा है कि अपने जीवन से सन्तुष्ट ब्राह्मी, सुन्दरी सहित पुरुदेव अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की शरण को प्राप्त हुई। वहाँ दीक्षा लेकर आर्यिकाओ की पुरस्सरी बन गई। पुरस्सरी का अर्थ है अग्रणी। ऐसा अवश्य ही द्रव्यश्रुत मे निष्णात होने के कारण हुआ होगा। वह श्लोक है—

**"ब्राह्मी ससुन्दरी तुष्टा प्रपद्य शरणं पुरुम्।
अभिषेकमवाप्याभूदार्यिकाणां पुरस्सरी॥"[२]**

नाट्य-शास्त्र के प्रसिद्ध रचयिता भरतमुनि ने ब्राह्मी को नाट्यमातृ का पद प्रदान किया है। उसके प्रसन्न होने की कामना की है, क्योंकि प्रसन्न नाट्यमातृ नाटक के उद्देश्य को सफल बनाने मे पूर्ण समर्थ है। उन्होने ब्राह्मी को बारम्बार नमस्कार किया है।[३] भागुरि ने 'ब्राह्म्याद्या मातर स्मृता' लिख कर ब्राह्मी आदि माताओ को स्मरणीय माना है। भागुरि का तात्पर्य है कि ब्राह्मी आदि माताएँ पावनता की प्रतीक है और उनके स्मरण से मन पवित्र हो जाता है। हर्षकीर्ति ने 'शारदीय नाममाला' मे वाग्देवी, शारदा, भारती, गी और सरस्वती को ब्राह्मी का पर्यायवाची बताते हुए लिखा है—"हसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु न."[४] अर्थात् हसयाना सरस्वती हमे सदैव वरदान देवे। उन्होने उसमे वर देने वाली सामर्थ्य को स्वीकार किया है।

महाभारत के शान्तिपर्व मे लिखा है कि पूर्वकाल मे ब्रह्मा ने ब्राह्मी और सरस्वती की रचना चतुर्वर्णों के लिए की थी, किन्तु वे लोभ मे पड कर अज्ञानता को प्राप्त हो गये। इसका अर्थ है कि ब्राह्मी लिपि का ज्ञान चारो वर्णों के लिए समान रूप से निर्धारित किया गया था, केवल ब्राह्मण के लिए नही। लिखने-पढने का अधिकार

---

१ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, २४/१७५

२. पुराणसार सग्रह, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी-सम्पादित, इसमें सकलित आदिनाथ चरित, ३/८४, पृ० ४८

३. "नमोस्तु नाट्यमातृभ्यो ब्राह्म्याद्याभ्यो नमोनमः।" भरतमुनि, नाट्यसूत्र, ३/६७

४ शारदीया नाममाला, १/२.

ब्राह्मण को ही नहीं, सभी वर्णों को था। इससे यह भी सिद्ध है कि जो लोभ के वशीभूत है, वह ज्ञानार्जन नहीं कर पाता, अपितु अर्जित को भी विस्मरण कर जाता है। महर्षि वेद व्यास ने लिखा है—

"वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः॥"[1]

अर्थ—पूर्व मे (पहले) ब्रह्मा के द्वारा चार वर्णों की स्थापना की गई थी और जिनके लिए ब्राह्मी लिपि तथा सरस्वती (विद्या) की रचना की थी, वे लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गये।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि दीक्षित ब्राह्मण ही ब्राह्मी लिपि का प्रयोग और उच्चारण करने का अधिकारी था। ताडय ब्रा० १७/४ मे लिखा है, "अदीक्षिता दीक्षितवाच वदन्ति" इसका अर्थ है कि—व्रात्य लोग यद्यपि दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाये हुओ की भाषा बोलते हैं। डा० सम्पूर्णानन्द ने व्रात्यकाण्ड-भूमिका मे लिखा है, "उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे लोगो को वैदिक कृत्यो के लिए सामान्यत अनधिकारी और पतित माना जाता है, किन्तु यदि कोई व्रात्य विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें, फिर भी वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।"[2] द्राविडो को भी अदीक्षित और अनार्य माना जाता था, किन्तु द्राविड भाषाओ की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं, ऐसा विद्वान् मानते हैं। श्री दिनकरजी ने अपने ग्रन्थ 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा है, "ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत मे भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख दक्षिण मे भी ब्राह्मी मे ही नही खुदवाये होते। दक्षिण भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बडी पुत्री थी। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियो का आविष्कार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड हुई।"[3] तेलगू तथा कन्नड लिपियो मे अत्यल्प अन्तर है, उतना जितना कि गुजराती और देवनागरी मे। दो-तीन अक्षरो के सिवा बाकी सब अक्षर दोनो लिपियो मे समान हैं। ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड लिपि निकली है, दक्षिण मे सिंहल तथा पूर्व मे सुदूर जावा तक जा पहुँची। तमिल लिपि ब्राह्मी लिपि की दूसरी शाखा से निकली है।[4] अर्थात् द्राविडो को ब्राह्मी लिपि सीखने और बोलने का अधिकार था। आचार्य बराहमिहिर ने तो यहाँ

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, १२/१८१/१५

२ व्रात्यकाण्ड भूमिका, डॉ० सम्पूर्णानन्द-लिखित, पृष्ठ २

३ सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४

४ 'कन्नड साहित्य का नवीन इतिहास', पृ० ६.

तक लिखा कि वे म्लेच्छ और यवन, जिनमे शास्त्र भली भाँति स्थित है, ऋषिवत् पूजे जाते हैं। उनका कथन है—

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः।"

'पण्णवणासुत्त' मे, भाषा के अनुसार आर्य केवल उनको बताया, जो अर्द्धमागधी भाषा मे वार्तालाप करते है, लिखते-पढते है और जिनमे ब्राह्मीलिपि का व्यवहार होता है।[1] अर्थात् उन्होंने उन सबको आर्य माना, जो अर्द्धमागधी प्राकृत मे बोलते और ब्राह्मी लिपि का व्यवहार करते हैं, फिर वह यवन हो या म्लेच्छ, शूद्र हो या ब्राह्मण, क्षत्रिय हो या वैश्य। 'अववाइअसुत्त' मे भी लिखा है कि भगवान् महावीर आर्य और अनार्य दोनो को समान रूप से धर्मोपदेश करते थे—"तेसिं सव्वेसिं आर्य-अणारियाण अगिलाए धम्म आइक्खइ।"[2] अर्थात् जैनो ने भाषा और लिपि के अध्ययन और अध्यापन मे जाति-भेद को कभी स्वीकार नही किया। लिखने-पढने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है, अन्य किसी को नही, इस मान्यता की रचना ब्राह्मण ने की और उसका प्रचार भी किया। श्रमण-परम्परा ने ऐसा कभी नही माना। उसने लिपि को एक साधना के रूप मे स्वीकार किया और उसका द्वार सबके लिए खुला रक्खा।

जैन समाज मे श्रुतपञ्चमी का महत्त्व बहुत अधिक है। इस दिन नये शास्त्र लिख कर स्थापित किये जाते है और प्राचीन शास्त्रो की वन्दना की जाती है। अर्थात् श्रुतपचमी का अर्थ श्रुत भक्ति से है—वह किसी रूप मे की गई हो, नये शास्त्र लिख कर अथवा प्राचीन शास्त्रो को श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर। श्री आशाधर सूरि ने प्रतिष्ठा सारोद्धार मे लिखा है—

"शुभे शिलावावुत्कीर्य श्रुतस्कन्धमपि न्यसेत्।
ब्राह्मीन्यास विधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात्॥
सुलेखकेन संलिख्य परमागमपुस्तकम्।
ब्राह्मीं वा श्रुतपञ्चम्या सुलग्ने वा प्रतिष्ठयेत्॥"

—प्रतिष्ठासारोद्धार ६/३३-३४

अर्थ—शुभ मुहूर्त मे, शिलादि मे उत्कीर्ण करके श्रुतस्कध की स्थापना करे, फिर ब्राह्मी के न्यासविधान से उसकी स्तुति करे। सुलेख-पूर्वक परमागम पुस्तक अथवा ब्राह्मी लिख कर श्रुतपञ्चमी के शुभ मुहूर्त मे उसकी स्थापना करे।

तीर्थकर महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष पश्चात् जैन ऋषियो ने मौखिक पठन-पाठन के साथ ग्रन्थ रचना प्रारम्भ की। सबसे पहले आचार्य गुणधर ने कषाय पाहुड और आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि ने षट्खण्डागम को लिपिबद्ध किया। इस

---

१ पण्णवणासुत्त–५६
२ अववाइअसुत्त, पारा-५६

ग्रन्थ मे पौने दो लाख श्लोक है। यह ग्रन्थ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी के दिन पूर्ण हुआ था। उस दिन सभी भव्य जीवो ने उस ग्रन्थ की पूजा की। तभी से यह दिन श्रुत पञ्चमी के नाम से प्रसिद्ध हुआ और ज्ञान का प्रतीक बना। आचार्य इन्द्रनन्दि ने इसका वर्णन करते हुए 'श्रुतावतार' मे लिखा है—

ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्य संघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रिया-पूर्वकं पूजाम्॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजा कुर्वते जैनाः॥

—श्रुतावतार १४३-१४४

अर्थ—ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी के दिन कषायपाहुड और षट्खण्डागम की पूजा, चतुर्विध सघ, और चतुर्वर्ण सहित, क्रिया-पूर्वक की गई थी। इसी कारण श्रुतपञ्चमी पवित्र ख्याति को प्राप्त हुई। आज भी जैन लोग उस दिन श्रुत पूजा करते है। वास्तव मे यह पूजा लिपि-पूजा ही है।

केवल श्रमण परम्परा मे ही नही, अपितु वैदिको मे भी ब्राह्मी को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की देनेवाली—'धर्मार्थकाममोक्षदा' कहा गया है। कूर्मपुराण की एक सहिता का नाम ब्राह्मी है। वह चार वेदो से सम्मत है और उसमे छ हजार श्लोक है, अर्थात् वह बाह्य और अन्त दोनो प्रकार के ज्ञान से भरपूर है। इस सहिता की दो पक्तियाँ है—

इयन्तु सहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैस्तु सम्मिता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥

—कूर्मपुराण, १/२२-२३

ब्राह्मी को 'वरदा' बहुतो ने कहा, जैनाचार्यों ने भी। हम जो कुछ चाहते है, उसे प्राप्त करने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है, फिर वह माध्यम महावीर के रूप मे हो, बुद्ध, कृष्ण या ईसा के रूप मे। माध्यम तो माध्यम ही होता है, वह हमे प्रेरित कर सकता है, आगे बढा सकता है, किन्तु प्राप्तव्य प्राप्त होता है, अपनी ही शक्ति से। जब तक हम मे दृढ विश्वास न होगा, हम अपनी कोई भी—इह-लौकिक अथवा पारलौकिक इच्छा पूरी नही कर सकते, यह सच है। साथ ही यह भी ठीक है कि जिसे हमने अपना प्रेरणा सूत्र माना है और जिससे प्रेरणा प्राप्त कर हमारा विश्वास दृढ से दृढतर बना है, वह हमारे लिए सम्मान्य और पूज्य तो है ही। ब्राह्मी भी ऐसे ही पूज्य स्थान पर प्रतिष्ठित है। प्रसिद्ध प० आशाधर ने अपने अनगारधर्मामृत मे ब्राह्मी से आशीर्वाद माँगा है, जिससे कि वे मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ जैसी भावनाओ मे सतत् तत्पर रहे, उन्हे निरन्तर भाते रहे। भायेगे वे स्वय, किन्तु उनका मन डगमगाता है, उसे मजबूत बनाना है। वह उन भावनाओ मे अडिग बना रहे, ऐसा वे चाहते है। अत ब्राह्मी की ओर

देखते है। वह ऐसी ही साधिका थी। उसने चारो भावनाओ को निश्चल मन से भाया था। प० आशाधर ने 'अनगारधर्मामृत' मे लिखा है, "अनन्त चतुष्टय परमपद की प्राप्ति के लिए अभिमुख मुनियो को मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ चारो भावनाओ को निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। प्राणिमात्र मे दुखो को उत्पन्न न होने की आकाक्षा मैत्री, गुणवानो मे हर्षरूप मनोराग प्रमोद, दुखियो मे उदारबुद्धि कारुण्य और अनुकूल-प्रतिकूल व्यक्तियो मे समता-माध्यस्थ भावना है। हे ब्राह्मि! वचनो की तथा आत्मा की देवि! मुझे आप ऐसी शिक्षा दे कि मैं इन भावनाओ मे तत्पर रहूँ।"[१]

किसी समय ऊपरी रावी घाटी अथवा बुड्ढल नदी घाटी का क्षेत्र ब्राह्मी का प्रभाव क्षेत्र माना जाता था, ऐसा उसके पुरातात्त्विक अवशेषो से अनुमानित होता है। आधुनिक चम्बा जिले के भरमौर स्थान से एक मील पर्वतीय ऊँचाई की ओर बढने पर एक देवी मन्दिर मिलता है। वह काष्ठनिर्मित है। उसमे सिहारूढ देवी की एक पीतल की प्रतिमा है। प्रतिमा के पीछे एक व्यक्ति खडा है, जो देवी को पकडे हुए है। यहाँ के निवासी इस मूर्त्ति और मन्दिर को ब्रह्माणी देवी का कहते हैं। उनका कथन है कि आदिकाल मे इस क्षेत्र पर ब्रह्माणी देवी का अद्वितीय प्रभाव था। उसी के नाम पर इसे ब्रह्मपुरी कहते थे। यह भूमि उसी देवी की मानी जाती थी।

इस स्थान से एक मील नीचे चौरासिया का मैदान है, जिसमे चौरासी लिंग स्थापित है। वहाँ गणेश, शीतला और लक्षणा देवियो के मन्दिरो के अतिरिक्त एक विशाल शिव मन्दिर तथा अष्टधातु का नादिया बैल भी है। आधुनिक समय मे निर्मित एक नागाबाबा-मन्दिर भी है, जिसमे अस्सी सहस्र रुपये व्यय हुए हैं। इस मदिर की निर्माण-शैली राजपूत है। यहाँ के लोगो का कथन है कि आदिकाल मे यहाँ 'ब्रह्माणी देवी' का विशाल मदिर था। सब उसी के भक्त थे। यदि इस स्थान की खुदाई कराई जाये तो उस मन्दिर के अवशेष मिल सकते हैं। यह कथन इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि गणेशमन्दिर की वेदी पर जो पुष्पमय चित्रकारी है, वह नि सन्देह जैन है, ऐसा कनिघम ने बहुत पहले ही लिख दिया था।[२]

यह सच है कि यह क्षेत्र किसी समय श्रमण सस्कृति का प्रमुख स्थान था। सिकन्दर महान् ने अपने आक्रमण के समय (३२६ ई पू) यहाँ अनेक जैन

---

१ प० आशाधर, अनगारधर्मामृत, ४/१५१

२ "भरमौर के गणेश मदिर की वेदी पर जो पुष्पमय चित्रकारी है (फोटो न० ३०), वह नि सदेह जैन या बौद्ध है, जैन चित्रकारी से अधिक मिलती-जुलती है।"

Cunningham, A S. R. xiv, P 112, मिलाइए Vogel A. S R, 1902-3, P. 239, Fig. 5, Antiquities, P. 140, 142, F. Plates viii

साधुओ को देखा था।[1] वह उनके त्याग, तप, नितात अनासक्ति और वीतरागता से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि आचार्य दोलामस को अपने साथ यूनान ले जाना चाहता था, किन्तु उन्होने इनकार कर दिया, फिर भी वह एक साधु को ले जाने मे समर्थ हुआ।[2] इस क्षेत्र मे जैन साधुओ की यह परम्परा एक लम्बे काल मे अविच्छिन्न रूप मे चली आ रही थी, ऐसा मैं मानता हूँ। उसका आधार भी है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव, जिनका उल्लेख वेदो से श्रीमद्भागवत् तक मे पाया जाता है और जिन्हें कुछ विद्वानो ने वेद-पूर्व भी स्वीकार किया है, ने पजाब और सीमान्त का समूचा भाग अपने पुत्र बाहुबलि को दिया था। वे ही इस प्रदेश के राजा थे। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् ने अपनी पुत्री ब्राह्मी, जो भरत के साथ सहजन्मा थी, बाहुबलि को दी थी। उसका अधिवास इधर ही था। अन्त मे वह प्रव्रजित होकर और सर्वायु को भोगकर सिद्धलोक मे गई।[3] यदि यह कथन सत्य मान लिया जाये तो ब्राह्मी इस प्रदेश की महाराज्ञी थी। अन्त मे वह साध्वी-प्रमुखा भी बनी। इधर ही उसने तप किया। उसकी लोक-प्रियता की बात मै पहले ही लिख चुका हूँ। आगे चलकर उसकी स्मृति मे जन साधारण ने अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित किये हो, तो कुछ अनुचित नही लगता। यह सभव है कि उसके नाम पर कभी विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ हो। आगे अन्य धर्मावलम्बियो ने उसे विनष्ट कर अपनी नई स्थापनाएँ की हो और एक वेदी अपनी सुन्दर चित्रकारी के कारण बच गई हो और उस पर गणेशजी की मूर्त्ति विराजमान कर दी गई हो। ऐसा भारत के अन्य अनेक स्थानो पर भी हुआ है।

इस सन्दर्भ मे डॉ मोहनलाल गुप्ता का एक उल्लेख दृष्टव्य है। उन्होने अपने शोध-प्रबन्ध 'Habitant, Economy and Society in Gaddiyars (H P.)' मे लिखा है, "प्रश्न यह है कि यदि श्रमण विचारधारा इस क्षेत्र मे प्राचीन समय से थी तो बाद मे स्पष्टत उसके दर्शन क्यो नही हुए? इस विषय मे हमारा मत है कि वर्त्तमान चम्बा जिले और भरमौर को सात ईस्वी पश्चात् बौद्धो ने बहुत प्रभावित किया। इससे यहाँ की जैन विचार-धारा को आघात पहुँचा होगा। बौद्धो के पश्चात् चम्बा जिले तथा भरमौर को नवीन ढग से बसाने वाले बर्मन शासको ने शकराचार्य के प्रभाव के कारण, इस क्षेत्र से श्रमण सभ्यता के चिह्नो को पूरी तरह नष्ट करके इस स्थिति मे ला दिया होगा, जिससे वह क्षेत्र उनके धर्म एव अस्तित्व का एकमात्र

1 Kausambi D D, 'An Introduction to the study of Indian History,' Bombay--1959, Page 180

2 'The Lite of the Buddha' by E I Thomas, 1927, P 115

३ "ऋषभदेवस्य सुमङ्गलाया देव्या, भरतेन सहजाताया पुत्र्याम्, ति०/सा च बाहुबलिने भगवता दत्ता प्रव्रजिता प्रवर्तिनी भूत्वा चतुरशीतिपूर्व शतसहस्राणि सर्वाऽऽयु पालयित्वा सिद्धा।"
कल्पसूत्र १, अधि० ७ क्षण, अभिधान राजेन्द्रकोश, पचम् भाग, पृष्ठ १२८४

स्थान बन जाये। धार्मिक विद्वेष के कारण अनेक श्रमण धार्मिक चिह्नों का विनाश तथा उनका इतिहास में पृथक्करण भारत के अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी कर दिया गया होगा।"[1]

'ब्राह्मी लिपि' की दीक्षा-शिक्षा

भारतवर्ष संस्कारों का देश है। यहाँ बिना संस्कार के कोई काम नहीं होता। उनमें एक लिपि-संस्कार भी है। इसका अर्थ है–अक्षरों और अंकों का प्रारम्भ। भारतीय ग्रंथों के अनुसार चौलकर्म संस्कार के उपरान्त ही लिपि-संस्कार होना चाहिए। चौलकर्म मुंडन संस्कार को कहते हैं, अर्थात् लिपि ज्ञान आरम्भ करने के पूर्व, गर्भ से चले आये बालों का मुंडन होना आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह उचित भी है। इसके लिए आचार्यों ने पाँच वर्ष की आयु निश्चित की थी। जैन और अजैन दोनों ग्रंथों में यह आयु समरूप से मान्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु की शिक्षा आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है। मल्लिनाथीय-टीका में, वैदिक ग्रन्थों–मनुस्मृति आदि के सहाय्य से उसे और अधिक स्पष्ट किया गया है। उनका कथन है कि रघु का अक्षरारम्भ या लिपिज्ञान पाँच वर्ष की आयु में प्रारम्भ हुआ था। एक श्लोक की टीका में उन्होंने लिखा है—

"स वृत्त चूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रै: सवयोभिरन्वित:।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङमयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥"[2]

मल्लिनाथीय टीका—"स रघु: प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेद्, इति वचनात् पञ्चमे वर्षे ... अमात्यपुत्रैरन्वित: सन्। लिपे: पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद् ग्रहणेन सम्यग् बोधेनोपायभूतेन वाङमयं शब्दजातं ..."[3]

अर्थ—महाराज दिलीप ने अपने कुमार रघु का यथाविधि चूडाकर्म (गर्भ-केशमुण्डन) संस्कार किया। वह कुमार शिर पर निकले मसृणमेदुर श्यामकेशों से शोभायमान और अपनी समान वय के मन्त्रिपुत्रों के साथ गुरुकुल में जाने लगा। वहाँ उसने स्वरव्यञ्जनात्मिका लिपि का ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उसे शब्द-वाक्यादि रूप वाङमय में प्रवेश करना उसी प्रकार सरल हो गया जैसे नदी में बहकर आने वाले किसी मकरादि जलपशु का समुद्र प्रवेश सुलभ हो जाता है।

यहाँ आचार्य मल्लिनाथ की टीका का यह कथन–'स रघु: प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेद् इति वचनात् पञ्चमे वर्षे ... ।' ध्यान देने योग्य

१ डॉ० मोहनलाल गुप्ता, 'Habitant, Economy and Society in Gaddiyars', टंकित प्रति, पृष्ठ ३५८

२ कालिदास, रघुवंश, ३/२८

३ रघुवंश–मल्लिनाथीय टीका ३/२८

है। उन्होंने "प्राप्ते पञ्चमे वर्षे' किसी अन्य ग्रथ से उद्धृत किया है और यह माना है कि रघु का लिपि सस्कार पाँच वर्ष की वय मे, मुण्डन सस्कार के बाद प्रारम्भ हुआ था।

कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र (२/४/४) मे लिखा है कि पाच वर्ष की आयु मे बालक का मुण्डन सस्कार होना चाहिए और उसके बाद ही वर्णमाला और अकज्ञान का अभ्यास अपेक्षित होता है। जैन आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण मे लिपि सस्कार के लिए बालक की पाँच वर्ष की आयु निर्धारित की है। उनकी दृष्टि मे भी चौलकर्म पहले हो जाना चाहिए।[१] कवि वादीभ-सिह के छत्रचूडामणि मे कुमार जीवन्धर का अक्षरारम्भ पाँच वर्ष की आयु मे हुआ था।[२] पार्श्वनाथ चरित मे भी कुमार रश्मिवेग ने लिपि का आरम्भ पाँच वर्ष की आयु मे किया था।[3]

विद्वानो के मध्य प्रश्न यह रहा है कि बालक का विद्यारम्भ चौलकर्म के बाद पाँच वर्ष की आयु मे करना चाहिए अथवा उपनयन सस्कार के अनन्तर आठ वर्ष की आयु मे? उपनयन सस्कार अथवा उपनीतिक्रिया के सम्बन्ध मे, आदि पुराण मे लिखा है कि यह गर्भ से अष्टम वर्ष मे सम्पन्न होता है। इसमे बालक को मूँज की बनी मेखला धारण करनी होती है। इसे मौजी-बन्धन कहते है। मेखला तीन लर की होती है और उसे रत्नत्रय का द्योतक माना जाता है। बालक को सफेद धोती पहनना, चोटी रखना और सात लर का यज्ञोपवीत धारण करना होता है। विद्यासमाप्ति तक ब्रह्मचर्यव्रत और भिक्षावृत्ति आवश्यक मानी गई है।[४] याज्ञवल्क्यस्मृति, सस्काररत्नमाला और स्मृतिचन्द्रिका आदि वैदिक ग्रथो मे उपनयन के बाद ही लिपिज्ञान और शास्त्र के ज्ञान का आरम्भ बतलाया गया है। जैन महाकवि असग ने वर्द्धमान चरित (५/२७) मे और कवि धनञ्जय ने द्विसन्धान महाकाव्य (३/२४/) मे भी उपनयन के बाद ही बालक का अक्षरारम्भ अथवा अन्य विद्यारम्भ स्वीकार किया है, अर्थात् ये लोग लिपिसस्कार चौलकर्म के बाद नही, अपितु उपनयन सस्कार सम्पन्न होने पर मानते है। चौलकर्म पाँच वर्ष की आयु मे और उप-नयन आठ वर्ष की आयु मे होता है। 'जम्बूस्वामी चरिउ' मे लिखा है कि कुमार ने आठ वर्ष की आयु मे सम्पूर्ण सूत्रार्थो और निःशेष कलाओ को जान लिया था। इसका अर्थ है कि कुमार ने पाँच वर्ष की आयु मे विद्यारम्भ किया और आठ वर्ष की आयु तक, अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण वह समूची विद्याओ मे पारगत हो गया। उपर्युक्त चरिउ के कथन से ऐसा ही आभासित होता है—

१ आदिपुराण, ३८/१०२-१०३
२ छत्रचूडामणि, १/११०-११२
३ पार्श्वनाथ चरित, ४/२६-२८
४ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत, गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृष्ठ २६१–६२.

"अट्ठवरिसकप्पेण कुमारें
पुण्णाविज्जिय विज्जापारें।
गुरुपाढण निमित्त मंतत्थइं
जाणियाइं पढियाइं बसत्थइं।
संपाइयति बग्गफल रसियउ
नीसेसाउ कलउ अब्भसियउ।"[1]

अर्थ—आठ वर्ष की आयु होने पर कुमार ने सकल विद्याओ का पार पा लिया। गुरु के पढाने के निमित्त से उसने मत्रार्थों अर्थात् सूत्रो के मतव्यो को और शास्त्रो को पहले से ही पढे हुए के समान जान लिया। त्रिवर्गफल अर्थात् धर्म, अर्थ व काम का सम्पादन करने वाली और चित्त मे रस अर्थात् आनन्द उत्पन्न करने वाली नि शेष कलाओ का अभ्यास कर लिया।

'जिणदत्तचरिउ' हिन्दी के आदिकाल की महत्त्वपूर्ण रचना है। कविवर रल्ह ने इसे वि स १३५४ मे रच कर पूरा किया था।[2] इसके अनुसार बालक ने १५ वर्ष की आयु मे विद्यारम्भ किया और बीस वर्ष की आयु तक सम्पूर्ण विद्याओ और कलाओ मे प्रवीण हो गया।[3] हिन्दी के आदिकाल की ही एक दूसरी कृति है—प्रद्युम्न चरित्र। इसके रचयिता सधारु वि की १४वी सदी के उत्तमकोटि के कवि थे। उन्होने भी प्रद्युम्न का विद्यारम्भ १५ वर्ष की आयु मे माना है। प्रद्युम्न की बुद्धि कुशाग्र थी। वह शीघ्र ही लक्षण, छन्द, तर्क, नाट्य, धनुष एव बाणविद्या मे पारगत हो गया।[4]

इस सन्दर्भ मे भट्टारक सोमसेन का 'त्रैवर्णिकाचार' एक दृष्टव्य ग्रथ है। उसमे सभी सस्कारो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उनका स्पष्ट मत है कि लिपि-सस्कार चौलकर्म के बाद और उपनयन से पूर्व होना चाहिए। उन्होने लिखा है—

"द्वितीयजन्मन पूर्वमक्षराभ्यासमाचरेत्।
मौञ्जीबन्धनतः पश्चाच्छास्त्रारम्भो विधीयते॥
पञ्चमे सप्तमे चाब्दे पूर्वं स्यान्मौञ्जिबन्धनात्।
तत्र चैवाक्षराभ्यासः कर्त्तव्यस्तूदगयने॥"[5]

अर्थ—बालक को द्वितीय जन्म (द्वितीय सस्कार) अर्थात् उपनयन सस्कार से पूर्व अक्षराभ्यास कराना चाहिये और उपनयन के बाद शास्त्रारम्भ होना

१ जम्बूस्वामी चरिउ, ४/६, पृष्ठ ७०
२ जिणदत्तचरिउ, डा० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित, महावीर शोध सस्थान, जयपुर, १९६६, भूमिका, पृष्ठ ४
३ वही, पद्य ६३ वां, पृष्ठ २६
४ प्रद्युम्नचरित्र, शोध सस्थान, जयपुर, पद्यसख्या १३७-३८, पृष्ठ २६.
५ सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१६३-६४

चाहिए, ऐसा विधान है। मौञ्जिबन्धन से पूर्व पाँचवें अथवा सातवें वर्ष मे, जब सूर्य उत्तरायण हो, बालक को लिपिज्ञान आरम्भ करवा देना उपयुक्त है।

सोमसेन ने केवल सूर्य के ही उत्तरायण और दक्षिणायन पर विचार नही किया है, अपितु उन्होंने शुभ और अशुभ नक्षत्रो की भी गणना की है। उनका कथन है कि यदि बालक को उत्तम नक्षत्र मे लिपिज्ञान आरम्भ कराया जाये तो विद्या सहज सिद्ध होती है और कोई व्यवधान नही आता। सिद्ध पुरुष ऐसा ही मानते है—

"मृगादिपंचस्वपि तेषु मूले। हस्तादिके च क्रियतेऽश्विनीषु।
पूर्वात्रये च श्रवणत्रये च। विद्यासमारम्भमुशन्ति सिद्धयै॥"[1]

अर्थ—बालक को विद्यारम्भ मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मूल, हस्त, चित्रा, अश्विनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा, श्रवण, धनिष्ठा और शततारका नक्षत्रो मे कराना चाहिए। ऐसा करने से विद्या की सिद्धि सहज ही हो जाती है, ऐसा विद्वानो ने कहा है।

दिनो का विचार प्राय चलता है। अर्थात् विद्यारम्भ के लिए कौन-सा दिन शुभ होता है और कौन-सा अशुभ? सोमसेन ने इस सम्बन्ध मे भी विचार किया है। उनकी दृष्टि मे रविवार को विद्यारम्भ कराने से आयुवृद्धि, सोमवार को स्थूलबुद्धि, मगलवार को मृत्यु, बुधवार को मेधाशक्ति, गुरुवार को कुशल बुद्धि, शुक्रवार को तर्कशक्ति और शनिवार को शरीर-क्षीणता होती है। अनध्याय के दिनो, प्रदोष के समय, छठ तथा रिक्ता तिथियो—चतुर्थी नवमी और चतुर्दशी को विद्यारम्भ नही कराना चाहिए। विद्यारम्भ के लिए बुधवार, गुरुवार और शुक्रवार शुभ माने गये है, सोमवार और रविवार मध्यम, शनिवार और मगलवार निकृष्ट है। पाँचवाँ वर्ष लगने पर और सूर्य के उत्तरायण होने पर, बालक को विद्यारम्भ का मुहूर्त्त कराना चाहिए। उस समय सरस्वती और क्षेत्रपाल की पूजा शुभ होती है—

"आदित्यादिषु वारेषु विद्यारम्भफलं क्रमात्।
आयुर्जाड्यं मृतिर्मेधा सुधीः प्रज्ञा तनुक्षयः॥
अनध्यायाः प्रदोषाश्च षष्ठी रिक्ता तथा तिथिः।
वर्जनीया प्रयत्नेन विद्यारम्भेषु सर्वदा॥
विद्यारम्भे शुभा प्रोक्ता जीवज्ञसित वासराः।
मध्यमौ सोमसूर्यौ च निन्द्यश्चैव शनिः कुजः॥
उदग्गते भास्वति पंचमेऽब्दे। प्राप्तेऽक्षर स्वीकरणं शिशूनाम्।
सरस्वती क्षेत्रसुपालकं च। गुडौदनाद्यैरभिपूज्यं कुर्यात्॥"[2]

---

१ वही, ८/१६५
२ सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१६६-६६

इस प्रकार एक सुनिश्चित काल मे बालक को विद्यारम्भ कराना चाहिए। उस दिन, अम्बा गुरु और शास्त्र की पूजा करे तथा जिनालय मे जाकर होम और जिन-पूजा सम्पन्न करे। इसके बाद बालक को स्नान कराकर वस्त्राभूषणो से अलकृत कर और ललाट मे तिलक लगाकर विद्यालय मे ले जावे। वहाँ निर्विघ्न विद्या-पूर्ति के लिए जय आदि पच देवताओ की पूजा करे, नमस्कार करे। फिर वस्त्र, आभूषण, फल और द्रव्य से अध्यापक गुरु की अभ्यर्थना करे, उन्हे भक्ति-पूर्वक हाथ जोडकर नमस्कार करना चाहिए। आचार्य सोमसेन ने लिखा है—

"एवं सुनिश्चिते काले विद्यारम्भ तु कारयेत्।
विधाय पूजामम्बाया श्री गुरोश्च श्रुतस्य च ॥
पूर्ववद् होमपूजादिकार्यं कृत्वा जिनालये।
पुत्रं संस्नाप्य सद्भूषैरलकृत्य विलेपनैः ॥
विद्यालय ततो गत्वा जयादि पंचदेवताः।
सपूज्य प्रणमेद् भक्त्या निर्विघ्न ग्रथसिद्धये ॥
वस्त्रैर्भूषैः फलैर्द्रव्यैः सपूज्याध्यापक गुरुम्।
हस्तद्वय च सयोज्य प्रणमेद् भक्तिपूर्वकम् ॥"[1]

शुभ मुहूर्त मे, पूजादि पवित्र कार्य सम्पन्न कर, माँ-बाप ने अपना बालक गुरु को सौप दिया। गुरु सर्वप्रथम उसे अक्षरज्ञान और अकज्ञान करवाता है। यह लिपि का प्रारम्भ है। यदि बालक उसे सम्यक् रूप से जान लेता है, तो आगे का ज्ञान सहज हो जाता है। इसी कारण, उस समय प्रारम्भिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। काल, मुहूर्त, दिन, स्नान, पूजा और हवन आदि से ध्वनित है कि बालक के विद्यारम्भ मे माता-पिता गम्भीर थे तो गुरु भी उसे गम्भीरता-पूर्वक ही लेता था। वह गुरु प्रतिष्ठा का जीवन जीता था। बालक को पढाने मे उसका मन लगता था। वह रुचि लेता था और बालक व्युत्पन्न बन जाता था।

सोमसेन ने त्रैवर्णिकाचार मे बताया है कि अध्यापक बालक को लिपिज्ञान किस ढग से सम्पन्न करवाये। इससे तत्कालीन लिपि-अध्यापन की शैली पर अच्छा प्रकाश पडता है—

---

१ सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७०-१७३

"प्राङ्मुखो गुरुरासीनः पश्चिमाभिमुखः शिशुः ।
कुर्यादक्षरसंस्कारं धर्मकामार्थ सिद्धये ।।
विशाल फलकादौ तु निस्तुषाखण्डतण्डुलान् ।
उपाध्यायः प्रसार्याथ विलिखेदक्षराणि च ।।
शिष्य हस्ताम्बुजद्वन्द्व धृतपुष्पाक्षतान् सितान् ।
क्षेपयित्वाक्षराभ्यर्णे तत्करेण विलेखयेत ।।
हेमादिपीठके वाऽपि प्रसार्य कुङ्कुमादिकम् ।
सुवर्णलेखनीकेन, लिखेत्तत्राक्षराणि वा ।।
'नम. सिद्धेभ्यः' इत्यादौ तत. स्वरादिक लिखेत ।
अकारादि हकारान्तं सर्वशास्त्रप्रकाशकम् ।।"[1]

अर्थ—लिपि-प्रारम्भ के समय गुरु प्राङमुख और शिष्य पश्चिमाभिमुख होकर बैठे । बाद मे, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अक्षर-सस्कार करे । वह इस प्रकार कि एक विशाल फलक मोटी पट्टी पर छिलके-रहित अखण्ड चावलो को बिछाकर उपाध्याय स्वय अक्षर लिखे, उन अक्षरो के पास बालक के हाथ से सफेद पुष्प और अक्षतो का क्षेपण करवावे, फिर बालक का हाथ पकडकर, उससे अक्षर लिखवावे । अथवा सोना, चाँदी आदि के पट्ट पर कुकुम अथवा केशर का लेप कर, सोने की लेखनी से उस पर अक्षर लिखे और बालक से लिखवाये । अक्षर लिखते समय सबसे पहले 'नम सिद्धेभ्य' लिखे । इसके बाद अकार से हकार-पर्यन्त स्वर और व्यञ्जन, जो सम्पूर्ण शास्त्रो को प्रकाशित करने वाले है, स्वय लिखे और बालक से लिखवावे ।

आचार्य सोमसेन भट्टारक थे और शायद इसी कारण मत्रो मे उनका अटल विश्वास था । यह सच है कि मात्रिक की सकल्पशक्ति मत्र को जीवन्त फलदायी प्रमाणित करती है । मत्र कोई हो, किसी से सम्बन्धित हो । उपर्युक्त प्रसग मे, सोमसेन का कथन है कि बालक को स्वर-व्यञ्जन प्रारम्भ कराते समय निम्नलिखित मत्रका उच्चारण करना चाहिए—

'ॐ नमोऽर्हते नमः सर्वज्ञाय सर्वभाषाभाषित सकलपदार्थाय बालक मक्षराभ्यास कारयामि द्वादशाङ्गश्रुत भवतु ऐं श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा ।'[2]

लिपि सस्कार के समय, श्रुतदेवता के स्थापन और पूजन की बात 'आदि पुराण' मे भी कही गई है । भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्याग्रहण का आशीर्वाद देकर विस्तृत स्वर्ण पट्ट पर स्वचित्तस्थ श्रुतदेवता को सपर्या

१ सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, ८/१७४-१७८
२ सोमसेन, त्रैवर्णिकाचार, पृष्ठ २५७

(पूजा) पूर्वक स्थापित किया, फिर अपने दोनो हाथों से अक्षरमालिका रूप लिपि और अकरूप सख्या सस्थान लिखना सिखाया।

"इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां।
उपादिशल्लिपिं संख्या संस्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्॥"[1]

लिपि सख्यान का आरम्भ करते समय, भगवान् ने 'सिद्ध नम' इति व्यक्त-मङ्गला सिद्धमातृका मन्त्र का उच्चारण किया। सिद्धमातृका स्वर-व्यञ्जन के भेद से दो भेदवाली है। समस्त विद्याओ मे पाई जाती है। यह अनेक बीजाक्षरो से व्याप्त है और इससे अनेक सयुक्ताक्षर उत्पन्न होते हैं। यह अकार से हकार पर्यन्त और विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अयोगवाह तक शुद्ध मुक्तावली के समान अक्षरावली से प्रदीप्त रहती है। इस मातृका को ब्राह्मी और सुन्दरी ने अच्छी तरह धारण किया—

"ततो भगवतोवक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्।
'सिद्धं नम' इति व्यक्तमङ्गला सिद्धमातृकाम्॥
अकारादि हकारान्ता शुद्धा मुक्तावलीमिव।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम्॥
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु सन्तताम्।
सयोगाक्षरसम्भूति नैकबीजाक्षरैश्चिताम्॥
समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत्॥"[2]

वर्णमातृका के ध्यान की बात अनेक जैन ग्रथो मे देखने को मिलती है। 'तत्त्वसार दीपक सन्दर्भ' मे एक रुचिकर श्लोक आया है—

"ध्यायेदनादिसिद्धान्त व्याख्यातां वर्णमातृकाम्।
आदिनाथ मुखोत्पन्नां विश्वागमविधायिनीम्॥"[3]

अर्थ—अनादि सिद्धान्त के रूप मे प्रसिद्ध एव सम्पूर्ण आगमो की निर्मात्री, भगवान् आदिनाथ के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए।

वर्णमातृका अथवा वर्णसमाम्नाय के अनादि सिद्धान्त के रूप मे प्रसिद्धि की बात भर्तृहरि ने अपने 'वाक्य पदीयम्' मे भी लिखी है। उनका कथन है—"अस्याक्षरसमाम्नायस्य वाग्व्यवहारजनकस्य न कश्चित् कर्त्ताऽस्ति एवमेव वेदे पारम्पर्येण स्मर्यमाणम्।" इसका अर्थ है कि—इस अक्षर समाम्नाय का,

---

१ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०३-१०४

२ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, १६/१०५-१०

३. तत्त्वसारदीपक—३५

जो कि समस्त पद-वाक्य रूप वाग्व्यवहार का जनयिता है, कोई कर्त्ता नहीं है — परम्परा से वेद मे ऐसा ही स्मरण किया गया है। 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' तथा 'सिद्ध नम.' पदों से वर्ण समाम्नाय अनादि सिद्ध है, यही प्रतिपादित किया गया है।

श्री वादीभसिंह ने छत्रचूडामणि मे वर्ण समाम्नाय प्रारम्भ करने से पूर्व सिद्ध पूजन, हवन, दानादि सम्पन्न करना आवश्यक बतलाया है। इसके बाद वर्ण-माला प्रारम्भ करने से परिणाम शुभ होता है, अर्थात् विद्या सिद्ध होती है, उसमे कोई विघ्न नही आता। जीवन्धर की निर्विघ्न विद्या-प्राप्ति के लिए ऐसा ही किया गया था।

"निष्प्रत्यूहेष्ट सिद्ध्यर्थं सिद्ध पूजादि पूर्वकम्।
सिद्धमातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम्॥[१]

अर्थ·—अनन्तर, निर्विघ्न विद्या-प्राप्ति के हेतु सिद्ध पूजन, हवन और दानादि को सम्पन्न कर सिद्धमातृका अ, इ, उ, क, ख आदि वर्णमाला (वर्ण समाम्नाय) को सीखना आरम्भ किया।

डॉ० आल्टेकर ने अपने एक लेख (१० ब० अ० ग्र०) मे लिखा है कि—शिक्षा के प्रारम्भ मे बालक को 'गणेशायनम' की जगह 'ॐ नम सिद्धानाम्' कहना होता था। डॉ० ब्हूलर का कथन है—'इस बारहखडी को 'ॐ नम सिद्धम्' के मगलपाठ के कारण कभी-कभी 'सिद्धाक्षरसमाम्नाय' या 'सिद्धमातृका' भी कहते है। इसकी प्राचीनता का प्रमाण हुइ-लिन (७८८ से ८१० ई) से भी मिलता है। उसने इस मगलपाठ को पहली फाड या चक्र कहा है। उस काल मे हिन्दू लडके इसी से विद्यारम्भ करते थे।"[२] डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने 'प्राचीन भारत मे शिक्षा' ग्रथ मे विद्यारम्भ 'ओम् नम सिद्धानाम्' से माना है। ब्हूलर का यह कथन सत्य है कि प्रारम्भ मे सिद्ध को नमस्कार करने के कारण ही बारहखडी का नाम ही सिद्धमातृका अथवा सिद्धाक्षर समाम्नाय पडा। किन्तु, समय परिवर्तनशील है। साम्प्रदायिक भेद-भावो ने एक दूसरे के शब्दो को भी विकृत बनाया। न जाने कब बौद्ध का बुद्धू और भद्र का भद्दा हो गया। न जाने कब प्रियदर्शी को मूर्ख कहा जाने लगा। इसी प्रकार 'ओम् नम सिद्धानाम्' जैसे प्रसिद्ध और प्रचलित मगलपाठ को न जाने कब आगे चल कर 'ओनामासीधम्म् बाप पढे न हम्म'। के रूप मे ध्वस्त कर दिया गया। किन्तु प्रारम्भ से हिन्दी के मध्यकाल मे बहुत दूर तक यह पतिष्ठित रहा, यह एक प्रामाणिक सत्य है और इतना ही यहाँ अभीष्ट है। इसकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध मे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का एक कथन दृष्टव्य है, "ओनामासी धम्' वस्तुत 'ओ नम सिद्धम्' का विकृत उच्चारण है। पीछे कही-कही इसकी जगह ही कई जगहो मे "रामागति/देहूमति" का प्रयोग होने लगा। कही-कही 'श्री गणेशाय-नम' से भी अक्षरारम्भ कराया जाता रहा। 'सिद्धम्' मे एक वचन का प्रयोग है,

१ छत्रचूडामणि, १/११२
२. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, डा. ब्हूलर, पृष्ठ ६.

यह चौरासी सिद्धो के लिए नही है। यदि ऐसा होता तो 'ओम् नम सिद्धेभ्य' कहना पडता। यह ब्राह्मणो का भी प्रयोग नही है। ब्राह्मणो के त्रिदेवो को सिद्ध नही कहा जाता। बौद्ध और जैन ही अपने सम्प्रदाय-प्रवर्तक को सिद्ध कहते है। इसलिए 'ॐ नम सिद्धम्' अथवा 'ओनामासीधम्' का इतना व्यापक प्रयोग श्रमण धर्म के प्रभाव की व्यापकता को बतलाता है।"[1]

हिन्दी युग के प्रारम्भ मे बालक को बारहखडी सिखाने के पहिले ओकार का मगलपाठ भी चल पडा था। जैन ग्रन्थो मे इसके अनेक सूत्र पकडे जा सकते है। रल्ह ने 'जिणदत्तचरिउ' मे लिखा है कि जिणदत्त ने सर्वप्रथम अपने मन मे ओकार का ध्यान किया फिर विद्या पढना आरम्भ की। रल्ह ने लिखा है—

"ओंकार लयउ मणु जाणि
लक्खणु छदु तक्क परिवाणि।
मुणि व्याकरण विरति कउ जाणु
भरह रमायणु महापुराणु॥"[2]

अर्थ—सर्वप्रथम उसने ओकार शब्द को मन मे माना, अर्थात् ओकार पर मन टिकाया। फिर, लक्षण, छन्द और तर्कशास्त्र को प्रमाणित किया—प्रामाणिक रूप से पढा, पल्लवग्राही नही रहा। आगे व्याकरण, वैराग्यपरक कथाएँ, भरत (नाट्य-शास्त्र), रामायण और महापुराण पढे।

महावीर और बुद्ध ने लोकभाषा पर बल दिया। जैन उपाध्याय बालक का विद्यारम्भ लोकभाषा के स्वर-व्यजनो मे ही करते थे, 'अ, इ, उ, न्' से नही। उन्होने बारहखडी विद्या का आविष्कार किया था, जो सहज थी और स्वाभाविक भी। उनके पढाने का ढग भी कष्टदायक नही था। बालक उसे आसानी से अवगम कर लेता था। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' मे एक रूपक आया है। वन जाते समय राम को एक विशाल वट-वृक्ष दिखाई पडा और उसकी तुलना उन्होने ग्रामीण उपाध्याय से की—

"गुरुवेसु करेवि सुन्दर मराह
ण विहय पढावइ अक्खराइ
वुक्कण किसलय कक्का रवन्ति
वाउलि-विहग किक्की भणन्ति
वन कुक्कडु कुक्कु आयरन्ति
अण्ण् विकलावि केक्कह चवन्ति
पियमाह वियड कोक्कड लवन्ति
कका वप्पीह समुल्लवन्ति
सो तरवरु गुणगणहरसमाणु
फलवत्त वन्तु अक्खर खिहाणु॥"[3]

---

१ महापण्डित राहुल साकृत्यायन, बौद्ध सिद्ध साहित्य (निबन्ध), सम्मेलन पत्रिका, भाग ५१, सख्या १, शक सवत् १८८७, पृष्ठ ४

२. रल्ह, जिणदत्तचरिउ, शोध सस्थान, जयपुर, पद्य ६४ वाँ, पृष्ठ २६

३ स्वयम्भू, पउमचरिउ, II, कडवक १५, पृष्ठ ६०

अर्थ—वट का वृक्ष गुरु का रूप धारण कर सुन्दर स्वर मे अक्षरो को पढा रहा था। पढने वाले थे स्वय उसके आश्रम मे रहने वाले पक्षिगण। कुक्कड कक्का कह रहा था, वाउल किक्कि, मोर केक्कड और प्रिय कोयल कोक्कह, पपीहा कुका कह रहा था।

मै इसे केवल रूपक ही नही मानता, अवश्य ही गाँव का उपाध्याय इन पक्षियो के माध्यम से बालको को बारहखडी का ज्ञान कराता होगा। वह ज्ञान कितना क्रियात्मक, सहज और स्वाभाविक होगा, यह स्पष्ट ही है। आज का शिक्षा मनोविज्ञान ऐसे उपायो को बालको के लिए रुचिकर मानता है। इनमे बालको का मन लगता है और वे इसे सहज ही अवगम कर पाते है। दूसरी ओर, सस्कृत की 'अ इ उ न्' रटाने की कला थी, जो शुष्क थी और कष्टदायक भी। वह बालमस्तिष्क के समीप कभी नही रही। उसका जो परिणाम होना था, हुआ। सहस्रश निरक्षरो के रूपमे भारत का नक्शा बदलता गया। बाल मन के सन्निकट होना ही शिक्षा प्रणाली का सबसे बडा गुण है। जैन उपाध्यायो न उसे खोजा था, किन्तु साम्प्रदायिक विद्वेषो के कारण वह सार्वभौम न बन पाई। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री उसे भारत लाये है और आज वह पनप रही है। उसे पश्चिम की देन ही कहा जाता है। हम बाहर को अपनाते है, भीतर को नही—अपने को नही।

जैन सघ होनहार बालको को कम उम्र मे दीक्षा देकर साधु बना देते थे। साधु बालक की शिक्षा सघ मे ही प्रारम्भ होती थी। उसका माध्यम भी बारहखडी ही थी—लोकभाषा के स्वर-व्यजन। इस भाँति वह बालक शीघ्र व्युत्पन्न होकर बडे-बडे ग्रन्थो का पारायण कर पाता था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री मेरुनन्दन उपाध्याय केवल सात वर्ष की आयु मे दीक्षित हुए थे।[1] वे एक ओर श्रेष्ठ कवि बने तो दूसरी ओर दार्शनिक विद्वान्। इन विद्वानो के सिद्धान्त तर्क और दर्शन के ग्रथ भले ही सस्कृत मे मिलते हो, किन्तु उन्होने भावपरक काव्यरचना अपनी मातृभाषा मे ही की। इसका कारण था कि उनके भाव उसी भाषा मे अभिव्यक्त होने को अकुलाते थे, जिसमे उन्होने अक्षरारम्भ किया था। ऐसे विद्वान् और अनुभूति-परक साधु वे होते थे, जिन्होने पाँच से आठ वर्ष तक की आयु मे दीक्षा ली थी।

बालक के विद्यारम्भ के लिए पाँच वर्ष की आयु एक ऐसी आयु थी, जिसे जैन, बौद्ध और हिन्दुओ ने ही नही, अपितु मुस्लिम धर्म ने भी स्वीकार किया है। डॉ० आल्टेकर ने 'J A S. B, 1935, P. 249' का उद्धरण देते हुए लिखा है[2]—"The Bismilla khani ceremony, which the Muslims performed in the 5th year, or to be more corrcet, on 4th day of the fourth month of the fifth year. It was performed

१ देखिए मेरा ग्रन्थ–हिन्दी जैनभक्ति काव्य और कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृष्ठ ४२

२ Dr A S Altekar, Education in Ancient India, पृष्ठ २६६, पादटिप्पण-२

on this day in the case of Humanyun" इसका हिन्दी अर्थ है—मुस्लिम बालक के पाँचवे वर्ष के चौथे महीने मे चौथे दिन बिस्मिल्ला ख़ानी (अक्षरारम्भ) महोत्सव करते हैं। हुमायूँ की तालीम इसी दिन शुरू हुई थी। जैन ग्रंथो मे प्राय पाँच वर्ष की आयु स्वीकार की गई है और ऐसा लगता है कि वह सार्वभौम थी। इसे लिपि-सस्कार कहते थे।

ब्राह्मी लिपि : विकास की ओर

ब्राह्मी लिपि शुद्ध भारतीय लिपि है अथवा किसी विदेशी लिपि से विकसित हुई है ? विद्वानो के मध्य यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। इस पर बहुत कुछ ऊहापोह हुआ, तर्क-वितर्क चले, खण्डन-मण्डन की बाढ आई, किन्तु अन्त मे यह सिद्ध हुआ कि यत्किञ्चित् साम्य के आधार पर किसी लिपि को एक दूसरे से निकला हुआ सिद्ध करना हलकापन है। ब्राह्मी लिपि के विदेशी जन्म की मान्यता का एक सबल आधार प्रस्तुत किया जाता रहा है कि—भारत मे पाँचवी सदी ईसवी पूर्व के नमूने नही मिलते। 'लिपि के नमूने' से उनका तात्पर्य था पुरातात्त्विक आधार। किन्तु पिपरावा, सोहग्रोरा, महास्थान और बडली की प्रौढ लेख प्रणाली (ईसा पूर्व ५०० वर्ष) से सिद्ध हो जाता है कि उससे भी पूर्व भारत मे समुन्नत लेखन-कला थी, जिसका पुष्ट रूप पिपरावा आदि मे दिखाई पडा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, यहाँ पुरातात्त्विक खुदाइयो पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। हो सकता है कि आगे कुछ और दिखाई पडे। बडली के प्रौढ लेख की पूर्व कडियाँ अवश्य मिलेगी, ऐसी सभावना है।

मोहन-जो-दडो और हडप्पा की खुदाइयो ने बहुत-से विवादो को स्वत. शान्त होने को बाध्य किया है। इसका समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व माना जाता है। इसमे प्राप्त लिपि पूर्णरूप से भारतीय लिपि है। भले ही वह अभी न पढी जा सकी हो, किन्तु वह एक लिपि है, इससे कोई इन्कार नही कर सकता। और फिर, डॉ ब्लूलर का यह अभिमत कि इस देश मे मिलने वाला प्राचीनतम अभिलेख ईसा-पूर्व छठी शताब्दी का है, इससे पूर्व नही, निराधार है।[1]

शोध-खोज की खीचतान मे विद्वान् कभी-कभी अनर्गल भी लिख जाते है। एक ओर उनका यह कथन कि सिन्धुघाटी लिपि अभी पढ़ी नही जा सकी है और दूसरी ओर, डॉ डिरिंजर का यह निश्चित मत कि यह लिपि अक्षरात्मक, भावात्मक अथवा दोनो के बीच की अनुवर्ती लिपि है और उससे अर्धवर्णात्मक ब्राह्मी लिपि नही निकल सकती,[2] कुछ परेशानियो मे डाल देता है। जब वह

---

१. भारतीय पुरालिपिशास्त्र, ब्लूलर, पृष्ठ १३, इसके उत्तर में देखिए 'भाषाविज्ञान कोश', डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ४१६–२०

२. डॉ० डिरिंजर, 'दि अलफाबेट', उद्धृत 'हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ ५७१

लिपि पढ़ी ही नहीं जा सकी, तो उसका कोई एक निश्चित रूप मान लेना, न्याय-पूर्ण नहीं है।

दुनियाँ की प्रत्येक भाषा चित्रलिपि से निकली, ऐसा भाषाविदो का सर्व-मान्य मत है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विश्व की सभी भाषाएँ प्रारम्भ में आकृति-मूलक थी। योगवासिष्ठ के एक श्लोक से सिद्ध है कि पहले लिपिकर्म मे आकृतियाँ ही अंकित होती थी—

"लिपिकर्मार्पिताकारा ध्यानासक्तधियश्च ते ।
अन्तस्थेनैव मनसा चिन्तयामासुरावृताः ।।"[१]

अर्थ—ध्यानावस्थित होने से वे लिपिकर्म मे अंकित आकृतियो से निस्तब्ध होकर आदरपूर्वक अन्त स्थित मन से चिन्तन करने लगे।

ऐसा ही, जैनग्रन्थ 'सहस्रनाम' मे, 'लेखर्षभोऽनिल.' सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रुतसागर ने लिखा है—"पुरा हि अनुमता दिव्याना देवाना विग्रहा-त्मिका रूपवर्णनरचना भित्तिषु लिखित्वेव क्रियते रमेति लेख.।"[२] इसका अर्थ है कि पहले अपने आराध्य दिव्य देवो की विग्रहात्मक रूपरचना भित्तियो पर की जाती थी, उसे लेख कहते थे।

ब्राह्मी लिपि भी चित्रलिपि से विकसित हुई, यह मानना असगत नही है, किन्तु यह भी सच है कि वह चित्रलिपि भारत मे मौजूद थी, अत· वह एक भार-तीय लिपि थी, उसका निकास किसी अन्य विदेशी लिपि से मानना, भाषा-विदो का चित्रलिपि वाला उद्गम स्थल गलत प्रमाणित करना है। और, उसे सही माना जा चुका है।

सिन्धुघाटी की सभ्यता विश्व-भर मे एक समुन्नत सभ्यता थी, इस बात को इतिहासज्ञो ने एक स्वर से माना है। उसकी प्रत्येक बात समुन्नत थी–क्या वस्तुकला, क्या शिल्पकला, क्या चित्रकला और क्या मूर्त्तिकला। सिन्धुघाटी के लोग भौतिकरूप से समुन्नत थे तो आध्यात्मिक रूप से भी कम न थे। मोहन-जो-दरो और हडप्पा मे प्राप्त मूर्त्तियो की योगमुद्रा और ध्यानस्थ चेष्टा उनके अध्यात्मभाव की प्रतीक है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता प्रो. रामप्रसादजी चन्दा का कथन है, "Not only the seated deities Engraved on some of Indus seals are in yoga posture and bear witness to the prevalence of yoga in the Indus valley in that remote age, the standing deities on the seals also show kayotsarga posture of yoga The kayotsarga posture is peculiarly Jaina."[3] इसका अर्थ है

१ योगवासिष्ठ, उत्पत्ति०, ८६/३७

२ जिनसहस्रनाम, 'लेखर्षभोऽनिल' की श्रुतसागरीय व्याख्या

3 Modern Review, August 1932, Page 155-160.

कि सिन्धुघाटी मे बैठी और खडी मूर्त्तियाँ कायोत्सर्गमुद्रा मे हैं। उनका कायोत्सर्ग वाला ढग विशेष कर जैनमूर्त्तियो मे ही पाया जाता है। ईजिप्शियन और ग्रीक मूर्तियो मे भी यह मुद्रा मिलती है, किन्तु वह वैराग्यभाव नही है, जो मोहन-जो-दरो की मूर्तियो मे उपलब्ध होता है। यहाँ यह कहना अपेक्षित है कि सिन्धु-घाटी के वासी हर दृष्टि से इतने समुन्नत थे, तो लिपि के सन्दर्भ मे कोरे रहे हो, माना नही जा सकता। मेरी दृष्टि मे, उसमे केवल भारत ही नही, अन्य अनेक देश भी अनुवर्ती बने हो, तो कुछ आश्चर्य नही है।

जहाँ तक सिन्धुघाटी लिपि और ब्राह्मीलिपि के बीच की कडियो का सम्बन्ध है, यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि—"यह बहुत सम्भव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियो की बाढ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री नष्ट हो गई हो और विदेशी आक्रमण तथा आपसी सघर्षो ने बहुत कुछ महत्वपूर्ण ध्वस कर दिया हो।"[1] इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि सहस्राधिक वर्ष के सतत विदेशी शासन ने हमारी अपनी सस्कृति और सभ्यता के अन्वेषण-उद्घाटन मे कोई रुचि नही दिखाई। इसके विपरीत, उसके विलुप्त रखने मे ही अपना कल्याण-समझा। वैसे, विलुप्त रहने की कथा बडी प्राचीन है। महाभारत के शातिपर्व मे एक श्लोक है—

"वर्णाश्चत्वार एते हि येषा ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्व लोभादज्ञानता गताः॥"[2]

अर्थ—पूर्व मे (पहले) ब्रह्मा के द्वारा चार वर्णों की स्थापना की गई थी और जिनके लिए ब्राह्मी लिपि तथा सरस्वती विद्या की स्थापना की गई थी, वे लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गए।

यह है वह कडी जो सिन्धुघाटी और ब्राह्मी लिपि के बीच सेतुबन्ध थी। ब्राह्मी लिपि को एक भारतीय लिपि घोषित करने मे साहित्यिक आधार भी नकारे नही जा सकते। उनका अपना मूल्य है। उनसे होकर सत्य पकडा जा सकता है, इसमे कोई सशय नही है। जैन और बौद्ध साहित्य मे प्रौढ ब्राह्मी के उद्धरण है और उसके जन्म तथा विकास की कथा है। डॉ डिरिंजर और बूलर आदि भी इस बात को मानते है। डॉ डिरिंजर का अभिमत है, "छ सौ ईसवी पूर्व उत्तरी भारत मे ऐसी अद्भुत क्रान्ति हुई कि इसने भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि अक्षर ज्ञान ने जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रचार एव प्रसार मे विशेष सहायता दी होगी। जहाँ तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद है कि इस युग मे लिखने की कला का विशेष रूप मे प्रचार हुआ।"[3] किन्तु, डॉ बूलर का कथन

---

१ हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५७६ और भाषाविज्ञानकोश, पृष्ठ ४१५-२२।

२ महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, १२/१८१/१५

३ डॉ० डिरिंजर, द अलफाबेट, पृष्ठ ३२८-३३४

है कि बौद्ध आगमों की रचना से भी पूर्व लोग लेखन-कला से सुपरिचित थे और उनमे लेखन का पर्याप्त प्रचार था।[१] बौद्ध आगमो मे एक कथा है कि एक बार बौद्ध भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास यह पूछने गये कि हम किस भाषा मे लिखे, तो उन्होने स्पष्ट ही छन्दस् (वेदभाषा) मे न लिखने का उपदेश दिया।[२] इसका अर्थ है कि छन्दम् मे पहले से लिखने की परम्परा थी। विनय-पिटक (४०० ई पूर्व के भी पूर्व-ओल्डनवर्ग के अनुसार) मे लिखा है कि बुद्ध से पूर्व बाँस या लकडी की पट्टी पर शिष्यो के पालनार्थ नियम खोद कर देने की प्रथा थी।[3] इससे प्रमाणित है कि बुद्ध युग से पूर्व लेखन कला का यहाँ प्रचार था। जातको मे अनेक नियमो को स्वर्णपत्रो पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एव ऋण लेने पर ऋण-पर्ण लिखे जाने के रूप मे लेखनकला के उल्लेख है। ओझाजी के अनुसार जातको मे ईसवी पूर्व छठी सदी या उसके पूर्व के समाज का चित्र है।[४] बौद्ध ग्रन्थ सुत्तन्त (सूत्रान्त) मे एक 'अक्खरिका' का उल्लेख है, जो आकाश मे या पीठ पर अक्षर लिखकर खेला जाता था।[५] रायस डेविड्स जातको का समय ई. पूर्व ४५० और डॉ. राजबली पाण्डेय छठी सदी ईसवी पूर्व मे भी पूर्व का मानते है।[६]

जहाँ तक जैन ग्रथो का सम्बन्ध है, उनमे ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति आदितीर्थंकर ऋषभदेव और उनकी पुत्री ब्राह्मी से सम्बन्धित बताई गई है। ऋषभदेव श्रमण सस्कृति के आदि प्रतिष्ठापक थे। ऋग्वेद के एक सूक्त १०/१३६ मे लिखा है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमण मुनियो के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।[७] ऋग्वेद और अथर्व-वेद मे वातरशना, शिशगा, वसतमला और प्रकीर्णकेशी श्रमण मुनियो का एकाधिक स्थलो पर उल्लेख हुआ है। गीता और श्रीमद्भागवत् मे तो अनेकानेक प्रसगो मे उनके प्रशसा-मूलक कथन है।[८] तात्पर्य है कि वेदो का जब निर्माण हुआ, जन-जन के मध्य ऋषभदेव पूज्य भाव को प्राप्त थे। इसका अर्थ यह भी है कि ब्राह्मी लिपि के जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव वेद-युग से पूर्व-वर्त्ती है। डॉ पी सी राय चौधरी ने उन्हे पाषाण युग के अन्त और कृषियुग के

१ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १६.
२ चुल्लवग्ग, ५/३३/१
3 Buddist India, Page 108
4. Indian Palaeography by Dr. R.B Pandey, P 6-7.
५. सुत्तन्त—1,1
६. हिन्दी भाषा, डा० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ६८०.
७ डॉ० मगलदेव शास्त्री, भारतीय सस्कृति का विकास, औपनिषद् धारा, पृष्ठ १८०
८. बृहद् विवेचन के लिए देखिए मेरा ग्रन्थ—भरत और भारत, पृष्ठ, २८-३४.

प्रारम्भ मे माना है।[१] वास्तविकता यह है कि लिपि ही की भाँति वे कृषि के भी प्रथम आविष्कारक थे। स्वयम्भू स्तोत्र की पक्ति—"प्रजापतिर्य. प्रथम जिजीविषु' शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा।"[२] इसी ओर इगित करती है। इस भाँति ऋषभदेव के युग को हम ईसा से सहस्रो वर्ष पूर्व मान सकते हैं। डॉ बूलर और विण्टरनित्स ने वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ ईसा से ४००० (चार हजार) वर्ष पूर्व माना है।[3] और, इसके पहले हुए ऋषभदेव, जिन्होने पहला लिपिज्ञान अपनी पुत्री ब्राह्मी को दिया। ऋग्वेद के 'सहस्रम् मे ददतोऽष्टकर्ण्य'[४] से स्पष्ट है कि उस समय के लोग सख्या का लिखना जानते थे। छान्दोग्योपनिषद् के–'हिकार इति त्र्यक्षर'[५] तथा तैत्तिरीय के–'वर्ण स्वर मात्रा बलम्'[६] से तत्कालीन अक्षरज्ञान और उसके लिखने की बात प्रगट होती है।

ऋषभदेव ने अपने कामदेव से सुन्दर और कार्त्तिकेय-से महाबली पुत्र बाहुबलि को सिन्धुघाटी की तरफ का पूरा राज्य बँटवारे मे दिया था। जैन उल्लेखो से यह भी स्पष्ट है कि 'भरत–बाहुबलि-युद्ध' के बाद, विजय प्राप्त करने वाले बाहुबलि के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होने वीतरागी दीक्षा ले ली थी।[७] ऋषभदेवजी के सभी पुत्र-भरत हो या बाहुबलि, भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय स्थल पर खडे थे। उन्होने भौतिक विकास को चरमोत्कर्ष दिया तो आध्यात्मिकता के तो प्रतीक ही बने। उन सब ने "विहाय य सागरवारिवासस, वधूमिवेमा वसुधा वधू सतीम्। मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत।।"[८] को अपने जीवन मे ढाला था। अवशेषो मे प्राप्त सिन्धुघाटी की सभ्यता इसी की उद्घोषक है। उसमे वैभव-सम्पन्नता के चिह्न है, तो नासाग्रध्यानस्थ योगियो के मूर्तिप्रतीक भी है। इस आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि यह समूची सभ्यता ऋषभदेव और उनके पुत्र बाहुबलि की परम्परानुगत है। इसी कारण, यह बात सुनिश्चित रूप से कही जा सकती है कि सिन्धुघाटी की लिपि ब्राह्मी का पूर्वरूप थी।

डॉ डिरिजर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलफाबेट' मे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अनार्य अरमइक अक्षर ही ब्राह्मी के पूर्व रूप माने जा सकते है। उनका

---

1 Jainism in Bihar, P 7, L P

२ स्वयम्भूस्तोत्र, १/२

3 A History of Indian Literature, vol 1, P 75

४ ऋग्वेद, १०, ७२, ७

५. छान्दोग्योपनिषद्, २, १०

६ तैत्तिरीय उपनिषद्, १, १

७ शालिभद्र सूरि, भरतेश्वर-बाहुबलिरास, पद्य १८६, १९३.

८ स्वयम्भूस्तोत्र, १/३

मुख्य आधार था कि ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व से छ· सौ वर्ष पूर्व तक सेमेटिक (फोनेशिया) और आरमेनियन (दक्षिण अरबी) व्यापारियो ने सर्वप्रथम भारत से सम्पर्क स्थापित कर अक्षरो का यहाँ समावेश किया।[१] सेमेटिक और आरमेनियन दोनो पश्चिमी एशिया से सम्बन्धित है। डॉ बूलर ने सेमेटिक से और डॉ डिरिजर ने आरमइक से ब्राह्मी की उत्पत्ति स्वीकार की है। दोनो में कोई भेद नही है। सेमेटिक मे २२ (बाईस) व्यञ्जन है और आरमइक में अट्ठाईस। दोनो मे अक्षरो का प्रारम्भ व्यञ्जन से होता है। दीर्घ-स्वर का नितान्त अभाव है। ब्राह्मी अक्षरो का प्रारम्भ स्वर से होता है, व्यञ्जन से नही। इसके अतिरिक्त व्यापार वाली बात और इन लोगो द्वारा भारत मे अक्षर-प्रचलन की बात हास्यास्पद और अप्रामाणिक है। क्या यह नही हो सकता कि उन्होने यहाँ आकर अक्षर ज्ञान किया हो। व्यापार दोनो तरफ का आदान-प्रदान है, अत यह भी हो सकता है कि कुछ उन्होने हमसे लिया हो और कुछ हमने उनसे लिया हो। किन्तु, इससे यह सिद्ध नही होता कि ब्राह्मी आरमइक अथवा सेमेटिक से निकली। शायद आदान-प्रदान के कारण ही दोनो मे कुछ समानता है और ऐसी समानता अग्रेजी और ब्राह्मी के कतिपय अक्षरो मे भी पाई जाती है। यत्किञ्चित समानता के आधार पर सिद्धान्त नही बनाये जा सकते।

डॉ राजबली पाण्डेय की मान्यता है कि फोनेशीय लोग मूलत भारतवासी थे। वे जब बाहर गये, तो यहाँ की लिपि साथ ले गये। वहाँ सामी लोगो के बीच रहते हुए उन्होने एक ओर उत्तरी सामी और आरमइक को प्रभावित किया, तो दूसरी ओर इनकी अपनी लिपि मे भी अन्तर आया।[२] ऐसी बात सम्भव तो है किन्तु अभी उसे सुदृढ प्रमाणो से प्रमाणित होना अवशिष्ट है।

दाये से बायें लिखने की बात जहाँ तक है, वह केवल पश्चिमी एशिया की लिपियो मे थी। जब ईरानी शासको का शासन काबुल तक फैला, तो दाये से बाये वाली बात भी आई। उससे खरोष्ठी प्रभावित हुई, ब्राह्मी नही। यह विचार कि ब्राह्मी पहले दाये से बाये लिखी जाती थी, भ्रमात्मक और अतथ्यात्मक है। एक शिलालेख और एक सिक्के के आधार पर डॉ बूलर ने इतना बडा निर्णय ले डाला, आश्चर्यजनक है। अशोक के जौगढ और धौली के लेखो मे 'ओ' तथा देहली के सिवालिक स्तम्भो मे 'ध' उलटा है।[3] कनिघम को मध्यप्रदेश मे एरण (जबलपुर) नाम के स्थान पर एक सिक्का मिला था, जिसका मुद्रालेख ब्राह्मी मे होते हुए भी दाये से बाये लिखा गया है। डॉ बूलर ने इस सिक्के को भी अपनी मान्यता के समर्थन मे प्रस्तुत किया।[४]

1. The Alphabet, PP 328—334
2. Indian Palaeography by Dr. R. B. Pandey, P 47
३ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ७२-७३
४ डॉ० वासुदेव उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ २४६

इनमें से प्रथम के सम्बन्ध मे श्री ओझाजी का अभिमत है कि–"यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है। यह भी सम्भव है कि देश-भेद के कारण ऐसा हो गया हो। छठी सदी के यशोधर्मन के लेख मे तो ' 'उ' नागरी के 'उ'–सा मिलता है, किन्तु इसी सदी के 'गारुलिक सिंहादित्य' के दान पत्र मे ठीक उसके उलटा। बगला का 'च' भी पहले उलटा लिखा जाता था।"[1] अत कतिपय उलटे अक्षरो के आधार पर पूरी लिपि की गति को उलटी मान लेना सुसगत नही है। आन्ध्रवश के राजा शातकर्णी के दो सिक्को के लेख भी ठप्पे की गडबड के कारण ही उलटे हो गये है। खरोष्ठी मे भी ऐसा हुआ है। पार्थिअन सम्राट अब्दगसिस के एक सिक्के का खरोष्ठी का लेख उलट गया है, किन्तु इस आधार पर खरोष्ठी को बाये से दाये किसी ने नही कहा। कहा भी नही जा सकता।

बूलर के बाद मद्रास मे यर्रगुडी स्थान पर अशोक का एक लघु शिलालेख प्राप्त हुआ है। उसकी एक पंक्ति दाये से बाये, तो दूसरी पक्ति बाये से दाये लिखी मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि लेखक एक नये प्रयाग की दृष्टि से अथवा खेलवाड की हौस मे ऐसा करता गया। इसलिए यह भी ब्राह्मी के दाये से बाये का कोई आधार नही बन सकता। वास्तविकता यह है कि अधिकाश लेख बाये से दाये मिलते है तो कतिपय के कारण यह क्यो माना जाये कि ब्राह्मी दाये से बाये लिखी जाती थी। इसी कारण निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि सामी और आरमइक की मूलगति का ब्राह्मी से मेल नही खाता। गतियाँ भिन्न है। अत एक दूसरे से प्रादुर्भूत हुई, इस सिद्धान्त को सकारा नही जा सकता। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ हण्टर और पर्सीट ने डॉ बूलर के तर्कों को अर्थहीन मानते हुए ब्राह्मी को विशुद्ध भारतीय लिपि कहा है।[2]

प्रश्न यह है कि जब जैन साहित्य ब्राह्मी लिपि को सम्राट ऋषभदेव से उत्पन्न हुआ मानता है और ऋषभदेव पूर्ववैदिक थे, तो उसकी (जैन साहित्य की) लिखित सामग्री अधिक प्राचीन क्यो नही है ? इसका कारण था कि धन, हाथी घोडा, जमीन आदि की भाँति ही पुस्तक भी परिग्रह मानी जाती थी। कोई भी वीतरागी श्रमण अन्य वस्तुओ की भाँति उसे भी अपने पास नही रख सकता था। यदि रखता तो प्रायश्चित का भागी होता। जैन आचार्यों ने पुस्तक को एक चक्र माना, जिसमे फसने पर हिसा होती और परिग्रह भी बढता, ऐसी मान्यता पनपने लगी थी। बाह्य छोडने से अन्त सधता है, बात चल

१ भाषाविज्ञानकोश, पृष्ठ ४१५–४२२
२. देखिए वही, पृष्ठ वही

पडी थी। ऋषभदेव का कथन था कि अन्त साधने से अन्त सधता है, फिर बाह्य तो स्वत छूट जाता है। छूटना ही मुख्य है, छोडना मुख्य नही है। बाह्य छोडने से बाह्य छूट जायेगा, किन्तु अन्त सधेगा ही, निश्चित नही है। पुस्तक बाह्य परिग्रह है, किन्तु उसके न रखने से कोई अपरिग्रही हो जायेगा, कहना गलत है। परिग्रह और अपरिग्रह चित्त की दशा है, पुस्तक की नही। ऋषभ-देव के इस जीवन दर्शन को लोग भूल गये। केवल बाह्य को छोडने वाली बात रह गई और उसमे पुस्तक भी आ गई। मान्यता जो कुछ बनी-बिगडी हो, गलत फहमी जी चाहे वैसे आई हो, किन्तु पुस्तक रखना पाप माना जाता था। शायद इसी कारण उसका लेखन भी नही होता था।

जैनाचार्यो ने पुस्तक को श्रुत कहा है। श्रुत शब्द 'श्रुश्रवणे' से बना। उसका अर्थ है—सुना हुआ। वैदिक परम्परा मे केवल वेदो की ऋचाओ को श्रुति कहा गया, अन्य को नही। किन्तु, जैन परम्परा सभी शास्त्रो को श्रुत सज्ञा से अभि-हित करती है। वहाँ श्रुत एक ज्ञान है। ज्ञान रूप श्रुत को 'भाव श्रुत' कहा गया है। वह आत्मगुण होने के कारण सदैव अमूर्त्त होता है। उसे प्रकाशित करने का निमित्त कारण शब्द है, अत वह भी निमित्त-नैमित्तिक के कथचिद् अभेद की अपेक्षा से श्रुत कहलाता है। शब्द मूर्त्त होता है, अत उसे द्रव्यश्रुत कहा गया है। इस भाँति श्रुत के दो भेद हुए—भावश्रुत और द्रव्यश्रुत। भावश्रुत के जितने भी निमित्त है, चाहे वे शब्द हो, चाहे लिपि हो, चाहे सकेत हो, चाहे चेष्टा हो-सभी कुछ द्रव्य श्रुत कहलाते है। शब्दरूप होने के कारण पुस्तक द्रव्यश्रुत है।

इस सदर्भ को लेकर जैनग्रथो मे एक मनोरञ्जक चर्चा का उल्लेख मिलता है। एक प्रश्न है कि सकेत और चेष्टाएँ, जो सुनाई नही देती, श्रुत है या नही ? भाष्यकार जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र ने 'आवश्यक वृत्ति' मे तथा आचार्य मलयगिरि ने 'नन्दिवृत्ति' मे श्रुत को यौगिक शब्द मानते हुए स्पष्ट निर्देश किया है कि -श्रुत वही है, जो सुनने योग्य हो, अन्य नही। जो चेष्टाएँ सुनाई न देती हो, उन्हे श्रुत नही कहना चाहिए। किन्तु, आचार्य भट्टाकलक ने 'तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक' मे लिखा है—'श्रुत शब्दोऽय रूढ शब्द इति सर्वमतिपूर्वस्य श्रुतत्त्वसिद्धिर्भवति।" अर्थात् श्रुत शब्द रूढ है। श्रुत ज्ञान मे किसी भी प्रकार का मतिज्ञान कारण हो सकता है। इसके अनुसार केवल सुना गया ही नही, अपितु देखा गया भी—सकेत अथवा चेष्टा श्रुतज्ञान की कोटि मे आते है।[1]

---

१ देखिए इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय—'लिपि व्युत्पत्ति और विश्लेषण'

अष्टादश प्रकारा ब्राह्मी लिपि :

विश्व नाना रूपात्मक है। उसमे अनेक धर्म हैं, अनेक रूप है और अनेक भाषाएँ है। आज से नही अनादि काल से ऐसा चला आ रहा है। अथर्ववेद मे एक स्थान पर लिखा मिलता है—

"जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं।
नाना धर्माणि पृथिवी यथौकसम्।।"[१]

अर्थ—पृथ्वी बहुत-से जनो को धारण करती है, जो पृथक धर्मों के मानने वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले है।

अथर्ववेद से पूर्व, ऋषभदेव के समय मे भी—'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा'[२] और 'अनेक भाषा जगती प्रसिद्धा'[३] से अनेक भाषाओ के अस्तित्व का प्रतिभास होता है। भाषा और लिपि का गहरा सम्बन्ध है। यदि भाषाएँ अनेक थी तो लिपियाँ भी अनेक थी। एकाधिक जैन ग्रन्थो मे अनेक लिपियो के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियो का बोध कराया था। पुत्री ब्राह्मी को सिखाये जाने के कारण वे सब लिपियाँ ब्राह्मी सज्ञा से अभिहित हुई। भगवती सूत्र मे एक स्थान पर लिखा है—"लिपि पुस्तकाऽऽदावक्षरविन्यास सा चाऽष्टादशप्रकाराऽपि श्री मन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिका या दर्शिता, ततो ब्राह्मीत्यमिधीयते।"[४] इसका अर्थ है कि नाभेयजिन—ऋषभदेव ने अठारह प्रकार की लिपियाँ अपनी ब्राह्मी नाम की पुत्री को सिखाई, अत उन्हे ब्राह्मी अभिधान से पुकारा गया। जैन-ग्रन्थ 'समवायाग सूत्र' और 'पण्णवणासूत्र' मे भी अठारह लिपियो का उल्लेख मिलता है। वहाँ यह भी लिखा है कि ये लिपियाँ ऋषभदेव ने ब्राह्मी को

---

१ अथर्ववेद, १२/१/४५ मिलाइए—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृष्ठ ४२६

२ "एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा
सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषा।
अप्रतिमत्तिमपास्य च तत्त्व
बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना।।"

महापुराण, २३/७०

३ "अनेक भाषा जगती प्रसिद्धा
परन्तु दिव्यो ध्वनिरर्हतो वै।
एव निरूप्यात्मनि तत्त्वबुद्धि
अभ्यर्चयामो जिन दिव्यवादम्।।"

प्रतिष्ठापाठ—५४२

४. भगवतीसूत्र १, श० १, उ

सिखाई थीं।[१] तिलोयपण्णत्ति प्राकृत का महत्वपूर्ण ग्रथ है। इसमे यतिवृष-भाचार्य ने भारत का वर्णन करते हुए लिखा है—

"णाणा जणवदणिहिदो अट्ठारसदेसभाससंजुत्तो।
कुंजरतुरगादिजुदो णर-णारी मण्डितो रम्मो ।।"[२]

अर्थ—भारतवर्ष नाना जनपदयुक्त, अट्ठारहदेश भाषा संयुक्त, कुजरतुरगादि-युक्त और नर-नारियो से मण्डित सुन्दर देश है। यतिवृषभ ने एक दूसरे स्थान पर इन अठारह देशभाषाओ को महाभाषा की सज्ञा दी है। इनके अतिरिक्त सात सौ के लगभग लघुभाषाएँ थी। आगे चलकर इसी को एक हिन्दी कवि ने—"दशअष्टमहाभाषा समेत। लघुभाषासात शतकसुचेत।।" के रूप मे व्यक्त किया। इस प्रसग मे श्री रामधारीसिंह दिनकर के प्रसिद्ध ग्रथ 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा मिलता है, "दक्षिण भारत मे प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बडी पुत्री थी। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियो का प्रचार किया, जिनमे से एक लिपि कन्नड हुई।"[३]

गुजरात के महाराज सिद्धराज और राजर्षि कुमारपाल के समय मे आचार्य हेमचन्द्र का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध था। उन्होने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की तो 'त्रिषष्ठिशलाकामहापुरुषचरित' की भी। वे अपने समय के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री और भारतीय सस्कृति तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होने ब्राह्मी लिपि के सन्दर्भ मे अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। उनका कथन है कि ऋषभदेव ने अठारह प्रकार की लिपियाँ ब्राह्मी को सिखाई थी। उन्होने लिखा है—

"अष्टादशलिपि ब्राह्मया अपसव्येन पाणिना।
दर्शयामास सव्येन सुन्दर्या गणितं पुनः ।।"[४]

अर्थ—तीर्थकर ऋषभदेव ने ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह लिपियो की और सुन्दरी को बाये हाथ से गणित की शिक्षा दी।

जैनो मे 'शत्रुञ्जय काव्य' का माहात्म्य बहुत अधिक है। डॉ नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने सस्कृत काव्य के विकास मे 'शत्रुञ्जयकाव्य' का योगदान स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उसमे एक स्थान पर लिखा है—

"अष्टादशलिपीर्नाथो, दर्शयामास पाणिना।
अपसव्येन स ब्राह्मया ज्योतिरूपा जगद्धिता ।।"[५]

शत्रुञ्जयकाव्य ३।१३१

---

१ समवायागसूत्र—अध्याय १८

२ तिलोयपण्णत्ति, ४/२२६७

३ सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४

४ आचार्य हेमचन्द्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, १/२/६६३

५ 'संस्कृत काव्य के विकास मे जैनकवियो का योगदान', पृष्ठ ५६१

इसका अर्थ है कि नाथ-वृषभनाथ ने दाहिने हाथ से ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान कराया।

इसी सन्दर्भ में 'पण्णवणासुत्त' का एक उद्धरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें लिखा है—"से किं त भासारिया। भासारिया जे ण अद्धमागहाए भासाए भासंति। जत्थ वि य ण बंभी लिवि पवत्तइ।।"[१] अर्थात् भाषा के अनुसार आर्य लोग वे हैं, जो अर्द्धमागधी भाषा में वार्तालाप करते हैं, लिखते-पढ़ते हैं और जिनमें ब्राह्मी लिपि का व्यवहार होता है। अर्द्धमागधी एक प्राकृत भाषा थी, जिसमें भारत की अठारह भाषाओं का सम्मिश्रण था। प्रसिद्ध आचार्य श्रुतसागर सूरि ने 'तत्त्वार्थ वृत्ति' में लिखा है—"सर्वार्ध मागधीया भाषा भवति। कोऽर्थः ? अर्द्धं भगवद्‌भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्द्धं च सर्वभाषात्मकम्।"[२] अर्थात् अर्द्धमागधी वह है, जिसमें आधे शब्द मगधदेश की भाषा के और आधे शब्द भारत की सब भाषाओं के हों। सातवीं शताब्दी के समर्थ चूर्णिकार गणि जिनदासमहत्तर ने अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में लिखा है—"मगहद्ध विसयभासानिबद्ध अट्ठारसदेसी भासाणियतं अद्धमागहं।"[३] इसका अर्थ है कि अर्द्धमागधी वह है जिसका अर्द्धभाग मागधी का और अर्द्धभाग अठारह देसी भाषाओं से बना हो। जैसे—यदि उसमें सौ शब्द मान लें तो पचास मागधी के और पचास अठारह देसी भाषाओं के होने चाहिये। ऐसी ही भाषा में भगवान् महावीर अपना उपदेश देते थे। यह ही कारण था कि प्रत्येक व्यक्ति उसे समझ जाता था। समवायांगसुत्त में लिखा है—

"भगवं च ण अद्धमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ। सा वि य ण अद्ध-मागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरिय-अणारियाणं दुप्पय-चौप्पय मियपसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पणो हियसिवसुहदाय भासत्ताए परिणमइ।"[४] अर्थात् भगवान् यह धर्म (जैन धर्म) अर्द्धमागधी भाषा में प्रचारित करते हैं और यह अर्द्धमागधी भाषा जब बोली जाती है तब आर्य और अनार्य, द्विपाद और चतुष्पाद, वन्य और ग्राम्य, पशु-पक्षी और सरीसृप (रिंगणशील सर्प आदि) सब प्रकार के कीटादि इसी में बोलते हैं, और यह सब का हित करती है, उनका कल्याण करती है और उन्हें सुख देती है।

अब प्रश्न यह है कि वे १८ भाषाएँ-लिपियाँ कौन-कौन-सी थीं ? अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग पंचम्, पृष्ठ १२८४ पर, कल्पसूत्र, भगवती सूत्र और आवश्यक-चूर्णि आदि ग्रन्थों के साहाय्य से ब्राह्मी और अन्य लिपियों का 'लिपि-भेद' के नाम से विवेचन हुआ है। वहाँ १८ लिपियों का नामोल्लेख है—

१ पण्णवणासुत्त—५६

२ षट्प्राभृतटीका, पृष्ठ ९९

३ जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृष्ठ २६८

४ समवायांगसुत्त—९८

"बभीए ण लिवीए अट्ठारसविहे लेक्खबिहाणे पणत्ते । तजहा—बभी, जवणालिया, देसऊरिया, वरोदिया, खरसाविया, महाराइया, उच्चत्तरिया, अक्खर-पुत्थियया, भोगवयत्ता, वेयणतिया, णिण्हइया, अकलिबि, गणिअलिबि, गधव्वलिबि, आदम्मलिबि, माहेसरलिबि, दामिलिबि, बोलिदिलिबि ।'[1]

'समवायागसूत्र' मे भी लिपि के भेद दिये है। उसमे ब्राह्मी के अतिरिक्त और अट्ठारह लिपियो का नामोल्लेख हुआ है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि ये अठारह लिपियाँ ब्राह्मी के विभिन्न प्रकार है। वे इस भाँति है—१ यावनी, २ दोषोपकारिका, ३ खरोष्ट्रिका, ४ खरश्राविता, ५ पकारादिका, ६ उच्चत्तरिका, ७ अक्षरपृष्ठिका, ८ भोगवतिका, ९ वैणयिका, १० निन्हविका, ११ अकलिपि, १२ गणितलिपि, १३ गन्धर्वलिपि, १४ भूतलिपि, १५ आदर्शलिपि, १६ माहेश्वरीलिपि, १७ द्राविडलिपि, १८ पुलिदलिपि[2] विशेषावश्यक भाष्य की टीका मे जिन १८ लिपियो का नामोल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार है—हस, भूत, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, तुरुक्की, कीरी, द्राविडी, सिधवीय, मालवी, नटी, नागरी, लाट, पारसी, अनिमित्ती, चाणक्यी, और मूलदेवी ।[3]

समवायागसूत्र की लिपियो मे 'भूतलिपि' अधिक है। वैसे, इन सभी लिपियो का रूप-विवेचन उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थो मे नही मिलता। फिर भी, जहाँ तक यावनी का सम्बन्ध है, वह यवनानी अर्थात् यूनानी लिपि है। निश्चित रूप से यह भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग मे बोली जाती थी। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व सम्राट सिकन्दर का भारत के इस भाग पर आक्रमण हुआ था। तभी से यूनानी किसी-न-किसी रूप मे वहाँ रहते रहे। उनकी लिपि का भी प्रचार हुआ। एरिअन ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' मे सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (३२६ ई पू) द्वारा लिखित भारत का वृत्तान्त सक्षेप मे दिया है। उसमे स्पष्ट है कि यहाँ पहले से ही ब्राह्मी लिपि थी, किन्तु यूनानियो के बसने और उनके राजशासन के बाद यूनानी लिपि छा गई होगी, ऐसी सम्भावना वहाँ पाये गये प्रभावो से पुष्ट हो जाती है। डा. रघुबीर ने अपनी शोध-खोजो के आधार पर कहा था कि चीन की दीवाल के इस ओर बने एक बौद्धमठ मे और तक्षशिला विश्वविद्यालय मे, बाहर जाने वाले यात्रियों को 'सम्बन्धित भाषाओ और

---

१ अभिधानराजेन्द्रकाश, भाग पचम, पृष्ठ १२८४

२ समवायाग सूत्र—अध्याय १८

३ विशेषावश्यक भाष्य की टीका, पृष्ठ ४६४ इसके अतिरिक्त १८ लिपियो के लिए लावण्यसमयगणि का विमल प्रबन्ध, लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय की 'कल्पसूत्रटीका', मुनि पुण्यविजय-भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला (पृ० ६) तथा श्री अगरचन्द नाहटा का 'जैन आगमो मे उल्लिखित भारतीय लिपियाँ एव इच्छालिपि, (ना० प्र० प०, वर्ष ५७, अक ४) देखे जा सकते हैं ।

लिपियो' का ज्ञान कराया जाता था। उनके अनुसार तक्षशिला मे यूनानी भाषा और लिपि के विधिवत् अध्ययन की व्यवस्था थी। डा वासुदेव उपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन' मे लिखा है कि 'यवनानी का प्रयोग उत्तर-पश्चिम भारत (वर्त्तमान पश्चिमी पाकिस्तान) मे होता था।"[1]

ब्राह्मी के बाद, भारतीय अभिलेखो मे खरोष्ठी का ही अधिक प्रयोग मिलता है। अशोक के दो शिलालेख—मनसेरा तथा शाहबाजगढी (उत्तर-पश्चिम भारत पाकिस्तान) खरोष्ठी मे लिखे मिलते हैं। ईरानी राजाओ ने उत्तर-पश्चिमी भारत बहुत पहले जीत लिया था। उनके शासन लेख अथवा मुद्रा लेखो मे खरोष्ठी का ही प्रयोग किया गया। मौर्यकाल के पश्चात् यूनानी शासको ने (१७५ ई पू) भी खरोष्ठी का प्रयोग किया। उधर के भारतीय सम्राट तुवर मिलिन्द के मुद्रालेख ख रोष्ठी मे ही मिलते हैं। खरोष्ठी का प्रसार मध्य एशिया मे हुआ था। वहाँ के शासन-लेख खरोष्ठी मे प्राप्त हुए है। खोतान मे यही लिपि खोतानी और तुषार मे तोखारी के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह दाये से बाये लिखी जाती थी। विद्वान लोग इसकी उत्पत्ति उत्तरी सामी और आरमेनियन लिपियो से मानते है।[2]

खर श्राविता का शाब्दिक अर्थ है कि जो सुनने मे कठोर हो। इस अनुमान के अतिरिक्त, इस लिपि के सम्बन्ध मे और कुछ नही कहा जा सकता। इसी प्रकार पकारादिका, जिसे प्राकृत मे पहाराइआ अथवा पआराइआ कहते है, पकार से प्रारम्भ होने वाली लिपि मानी जा सकती है। वह यहाँ के किसी भूभाग की जाति विशेष मे प्रचलित रही होगी। शायद साकेतिक लिपि का नाम निन्ह-विका था। यह कतिपय विशेष सकेतो से बनी लिपि होगी। अक और गणित लिपियाँ नाम से ही स्पष्ट है। गान्धर्व, भूत (भोट), आदर्श (देव), माहेश्वरी, द्राविड और पुलिंद लिपियाँ तद्तद् जातियो की लिपियाँ थी। हो सकता है कि आज की काश्मीरी, भोटानी, पहाडी, मुडिया, दक्षिणी और आदिवासी जातियो की भाषाओ के लिए ये लिपियाँ प्रचलित रही हो। एक पैशाची प्राकृत थी, जिसमे गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की थी। आगे चलकर यह ग्रन्थ विलुप्त हो गया। उसका सस्कृत रूपान्तर मिलता है। पैशाची प्राकृत एक भाषा थी। वह भूतलिपि मे लिखी गई हो, असम्भव नही है।

बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' मे चौंसठ लिपियो का नामोल्लेख हुआ है। वे नाम इस प्रकार है—ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अगलिपि, वगलिपि, मगध-

---

१ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ २४४

२ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृष्ठ २४५, २४६

लिपि, मांगल्यलिपि, मनुष्यलिपि, अंगुलीयलिपि, शकारि लिपि, ब्रह्मवल्ली लिपि, द्राविड लिपि, कनारि लिपि, दक्षिणि लिपि, उग्रलिपि, संख्यालिपि, अनुलोम-लिपि, ऊर्ध्वधनुर्लिपि, दरद लिपि, खास्य लिपि, चीन लिपि, हूण लिपि, मध्याक्षर-विस्तर लिपि, पुष्पलिपि, देवलिपि, नागलिपि, यक्षलिपि, गन्धर्व लिपि, किन्नरलिपि, महोरग लिपि, असुर लिपि, गरुड लिपि, मृगचक्र लिपि, चक्र लिपि, वायुमरु लिपि, भौमदेव लिपि, अन्तरिक्षदेव लिपि, उत्तर कुरुद्वीप लिपि, अपर गौडादि लिपि, पूर्वविदेह लिपि, उत्क्षेप लिपि, निक्षेप लिपि, विक्षेप लिपि, प्रक्षेप लिपि, सागर लिपि, बज्रलिपि, लेख-प्रतिलेख लिपि, अनद्रुतलिपि, शास्त्रावर्तलिपि, गणावर्त लिपि, उत्क्षेपावर्त लिपि, विक्षेपावर्त लिपि, पादलिखित लिपि, द्विरुत्तरपद सन्धि लिखितलिपि, दशोत्तरपद सिन्धिलिखित लिपि, अध्याहारिणी लिपि, सर्वरुत्संग्रहणी-लिपि, विद्यानुलोम लिपि, विमिश्रित लिपि, ऋषितपस्तप्त लिपि, धरणी प्रेक्षणी लिपि, सर्वौषधनिष्यनन्दलिपि, सर्वसार संग्रहणी लिपि, सर्वभूतरुद्रग्रहणी लिपि।"[१]

इन उपर्युक्त लिपियो के नामो से ऐसा लगता है कि वे प्राचीन भारत की विभिन्न जातियो और देशो से सम्बन्धित थी। इनमे अन्तिम कतिपय गणित, वैद्यक, मत्र, रसायन आदि विद्याओ के पारिभाषिक शब्दो से युक्त थी। डॉ. भोलानाथ तिवारी का यह कथन कि—"इसमे ब्राह्मी और खरोष्ठी—इन दो का ही आज पता है। अन्यो मे अधिकतर नाम कदाचित् कल्पित है।"[२] ठीक प्रतीत नही होता। अन्यो को कल्पित मान लेना अनुपयुक्त है। नामो की आधारभूमि थी, यह स्पष्ट ही है। केवल ब्राह्मी और खरोष्ठी ही नही, अन्य लिपियो मे भी कई आज उपलब्ध है। क्या सख्या और गणित लिपि आज नही है? क्या द्राविड, यूनानी और दक्षिणी लिपियाँ आज नही है? तत्कालीन देश और जातियो से सम्बन्धित ये नाम आधारभूत थे, निराधार नही, कल्पित नही। जैन और बौद्ध सूचियो मे कई नाम समान हैं।

डा बूलर का कथन है कि[३]—जैन और बौद्ध सूची के आधार पर ब्राह्मी के अतिरिक्त चार और नाम ऐसे है, जिनकी पहचान ज्ञात लिपियो से की जा सकती है। एक है दायी से बायी ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी अथवा

---

१. ललितविस्तर, १०, १२५, १६ इसके रचनाकाल के सम्बन्ध मे डॉ० राजबली पाण्डेय का अभिमत है, "It is a work written in Sanskrit and deals with the biography of Lord Buddha. It is not possible to fix its date exactly But as it was translated in the chinese in 308 A D., it must belong to a time atleast one or two centuries Earlier

—Indian Palaeography, p 24. quotation-I

२ 'हिन्दी भाषा', डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ६८२.

३ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ४-५.

खरोष्ट्री, जिसे विद्वानो ने पहले बैक्टीरियन, इण्डोबैक्टीरियन, बैक्ट्रोपालि, ऐरियान पालि आदि नामो से अभिहित किया था। दूसरी है द्राविडी या डामिली। शाय यह ब्राह्मी का ही एक स्वतन्त्र भेद है। इसका पता भट्टिप्रोलु के स्तूप से प्राप धातुपात्रो मे लगा है। तीसरी है पुष्करसारि या पुक्खरसारिया। पाणिनि आपस्तम्ब धर्मसूत्र और अन्य ग्रन्थो मे इस नाम के एक या अनेक धर्मशास्त्रिय और वैय्याकरणो का उल्लेख है। असम्भव नही कि पुष्कर सद् वश के किस व्यक्ति ने किसी नई लिपि का सृजन किया हो अथवा किसी प्रचलित लि का सस्कार कर नया नाम दिया हो। चौथी है—यवणालिया, जिसे पाणिनि यवनानी कहा है। यह एक यूनानी लिपि थी। डा बूलर का अभिमत है वि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत मे यूनानी वर्णमाला का प्रयो होता था। उन्होने प्रमाण स्वरूप कुछ ऐसे सिक्को की बात की है, जो सिकन्द से पहले के है और उस प्रदेश मे प्राप्त हुए है। उन पर यूनानी लिपि अभिलेख है। उनकी रचना यूनानी एटिक द्राम की अनुकृति पर है। बूलर ई पू ५०९ मे स्काईलैक्स के उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण के समय ही यहाँ पर यूनानी लिपि के प्रचार की बात स्वीकार की है।

इस प्रकार बूलर ब्राह्मी, खरोष्ट्री, दामि (द्राविडी), पुक्खरसारिया अ जवणालिया (यूनानी) को भारत की ऐतिहासिक लिपियाँ स्वीकार करते है इस सन्दर्भ मे वे जैन सूची को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। उनका कथ है, "अभिलेख शास्त्र, पाणिनि तथा स्वतन्त्र उत्तरी बौद्ध परम्पराओ की सा मे यह सिद्ध होता है कि जैनो की सूची मे जिन लिपियो की गणना है, उ कुछ तो निश्चय ही प्राचीन है और उनका पर्याप्त ऐतिहासिक मूल्य इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि ई पू ३०० मे भारत मे अनेक लिपि ज्ञात या प्रचलित थी।"[1]

प्रसारोन्मुखा ब्राह्मी

भारत की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं, ऐसा बडे-बडे विद्वानो अभिमत है। महापडित राहुल साकृत्यायन के सम्पादन मे प्रकाशित 'ग के पुरातत्त्वाक मे लिखा है, "एक ब्राह्मी लिपि को अगर विद्यार्थी अच्छी त सीख जाये तो वह अन्य लिपियो को थोडे ही परिश्रम मे सीख सकता है। शिलालेख आदि को भी कुछ कुछ पढ सकता है, क्योकि सारी लिपियाँ ब्र से ही उद्भूत हुई है।"[2] डा रामधारीसिंह 'दिनकर' का कथन है कि "द्रा

---

१ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ५

२ गगा, पुरातत्त्वविशेषाक—देखिए साहित्याचार्य मग का लेख—भारतीयो का लिपिज्ञान १९३३ ई०

भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से ही निकली है। ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत मे भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख, दक्षिण मे भी, ब्राह्मी मे ही नही खुदवाये होते।"[१] श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ ने ब्राह्मी लिपि का प्रसार सिहल, बर्मा और सुदूर जावा तक माना है। 'कन्नड साहित्य का नवीन इतिहास' नाम के अपने ग्रन्थ मे उन्होने लिखा है, "ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड लिपि निकली है, दक्षिण मे सिहल तथा पूर्व मे सुदूर जावा तक जा पहुँची है। अत सिंहल तथा बर्मा आदि की लिपियाँ कन्नड तथा तेलगु लिपि से मिलती-जुलती है। तमिल लिपि ब्राह्मी लिपि की एक दूसरी शाखा से निकली है, अत कन्नड और तेलगु लिपि मे भिन्न है। यो तो ब्राह्मीलिपि से निकली होने के कारण भारत की तथा एशिया की अन्य सभी लिपियो मे कुछ समानताएँ है।"[२]

ब्राह्मी लिपि भारत के सभी भागो और भारत के बाहर सुदूर तक प्रसृत थी। इस कार्य मे यायावर श्रमण जैन मुनियो का महत्वपूर्ण योगदान था। 'एन इन्ट्रोडक्शन टु जैनिज्म' नाम के ग्रन्थ मे लिखा है कि कृषियुग के प्रारम्भ से लेकर सिकन्दर के समय तक तक्षशिला मे जैनमुनियो का निर्बाध विचरण था, इसमे कोई सदेह नही किया जा सकता।[3] महाराज सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। उसने जैनधर्म के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया और देश-विदेश मे जैन साधुओ को भी धर्म प्रचार के लिए भेजा।[४] बौद्ध महावश के 'त दिस्वान पन्नायत्त निगण्ठो गिरिनायको' से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा सम्प्रति के समय मे सीलोन (लका) मे भी दिगम्बर मुनियो ने धर्म प्रचार किया था। श्री नगेन्द्रनाथ बसु ने 'हिन्दी विश्वकोष' मे लिखा है "तिब्बत हिमिन मठ मे रूसी पर्यटक नोटोविच ने एक पाली भाषा का ग्रन्थ प्राप्त किया था। उसमे लिखा है कि ईसा भारत तथा भोट देश मे आकर अज्ञात-वास मे रहा था और उसने जैन-साधुओ के साथ साक्षात्कार किया था।"[५] प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प सुन्दरलाल का अभिमत है कि जैन सन्त-महात्मा विभिन्न देशो मे जा-जाकर बसे थे और धर्म प्रचार किया था। उन्होने 'हजरत ईसा और ईसाई-धर्म' नाम के ग्रन्थ मे लिखा है, "उस जमाने की तवारीख से

---

१ 'सस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ ४४

२ 'कन्नड साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६

३ मिलाइए–Kausambi D D, 'An Introduction to the study of Indian History', Bombay, 1952, p 180.

और

'The life of the Buddha, E.I. Thomas, 1927, p 157.

४ 'भारत का इतिहास', सत्यकेतु विद्यालकार, पृ० २१८

५. हिन्दी विश्वकोष, भाग ३, श्री नगेन्द्रनाथ बसु, पृष्ठ १२८

पता चलता है कि पश्चिमी एशिया, यूनान, मिश्र और इथियोपिया के पहाड़ो और जगलो मे उन दिनो हजारो जैन सन्त महात्मा जा-जाकर जगह-जगह बसे हुए थे। ये लोग वहाँ बिल्कुल साधुओ की तरह रहते और अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे।"[१] विद्वान अशोक को बौद्ध कहते है, किन्तु सत्य यह है कि अशोक को जैन धर्म और बौद्ध धर्म मे इतना कम भेद दीखता था कि उसने सर्व-साधारण मे अपना बौद्ध होना अपने राज्य के बाहरवे वर्ष (ई पू २४७ वर्ष) मे स्वीकार किया था। उसके कई शिलालेख जैन सम्राट के रूप मे मिलते है।[२] अबुलफजल ने 'आइने अकबरी' मे लिखा है कि अशोक ने काश्मीर मे जैन धर्म का प्रचार किया था। अनेक जैन साधु वहाँ बस गये थे।[3]

प्राचीनकाल से ही घुमक्कड जैन साधु विदेशो मे जाते रहे है। उन्होने वहाँ के धर्म और सस्कृति को ही नही, अपितु भाषा और लिपि को भी सतत् प्रभावित किया। वे प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि के धनी थे। उनकी अभि-व्यक्ति के ये ही साधन थे। डा राजबली पाण्डेय का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि आरमेनियन आदि लिपिया ब्राह्मी से प्रभावित हुई, ब्राह्मी उनसे नही।[४] डा उदयनारायण तिवारी ने 'हिन्दी भाषा उद्गम और विकास' मे लिखा है, "भारतीय सस्कृति की प्रतीक-स्वरूप वस्तुत ब्राह्मी लिपि ही भारत के विविध प्रदेशो एव भारत के बाहर विदेशो मे फैली। भारतीय धर्म प्रचारको द्वारा यह मध्य एशिया पहुँची, जिसमे वहाँ की पुरानी खोतानी, तोखारी एव ईरानी भाषाएँ लिखी गई।"[५] डा भोलानाथ तिवारी का कथन है, "यह लिपि भारत के बाहर भी गई, वहाँ इसके रूपो मे धीरे-धीरे कुछ भिन्नताओ का विकास हुआ। मध्य एशिया मे ब्राह्मी लिपि मे ही पुरानी खोतानी तथा तोखारी आदि भाषाओ के लेख मिलते है।"[६] यह भी सत्य है कि वहाँ रहने और वहाँ की भाषा और लिपियो के मिश्रण से ब्राह्मी ने एक परिवर्तित रूप धारण किया। यह स्वाभाविक भी था। आदान-प्रदान से ऐसा होता ही है। अपने मातृदेश मे भी भाषा और लिपि एक ही रूप मे स्थायी नही होती। युगानुरूप उसमे परिवर्तन होता है, होना भी चाहिए, तभी वह मृत्युञ्जयी हो सकती है, अन्यथा दिवगत होना परिणाम है। अनेक लिपियाँ उसी परिणाम को प्राप्त हुई। आज उनका उल्लेख-मात्र मिलता है। उनमे प्रजनन शक्ति नही थी और वे

१ प० सुन्दरलाल, 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म', पृष्ठ २२.

2 Maj. General J S R Forlong, Studies in Science of Comparative Religions, p 20

3 Jadunath Sarkar, Bibioteea Indica, Ain-I-Akabari, vol II, Royal Asiatic Society, 1949 p 377

4 "It were the Phoenician and the Armaic characters which derived some Elements from the Proto-type of the Brahmi and not the vice-versa"
—Indian Palaeography, p 47.

५ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८०

६ डॉ० भोलानाथ तिवारी, हिन्दी भाषा, पृष्ठ ६६०.

निरवसिया चल बसी। ब्राह्मी की कोख फलवती थी। उसका वश चलता रहा। आज देवनागरी आदि साम्प्रतिक लिपियाँ उसी से सम्बद्ध हैं।

ईसवी पूर्व ५०० से ३५० ई तक ब्राह्मी मे अनेक परिवर्तन होते रहे, किन्तु तब तक वह लिपि ब्राह्मी के नाम से ही पुकारी जाती थी। ईसवी सन् ३५० के बाद वह स्पष्ट रूप मे उत्तरी और दक्षिणी शैलियो मे विभक्त हो गई। उनके नाम भी भिन्न हो गये। प्राचीन मौर्य एव शुग युग की ब्राह्मी चौथी शताब्दी मे गुप्त ब्राह्मी मे परिणत हुई। गुप्त युग के पूर्व–ई०पू० दूसरी शताब्दी मे ही अशोक के लेखो की लिपि से कलिग-लिपि मे स्पष्ट भिन्नता उत्पन्न हो गई थी। हाथीगुम्फ शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। हाथीगुम्फ के अक्षरो के सिरे छोटी रेखा आती है। अशोककालीन ब्राह्मी मे अक्षरो की गोलाई थी, रेखा नही थी, जो आगे चल कर प्रकट हो गई। मौर्य ब्राह्मी मे दीर्घ ई तथा ऊ के लिए क्रमश सिरे तथा नीचे दो रेखा जोड दी जाती थी। हाथी गुम्फ मे यह बात दृष्टिगोचर नही होती।[1] इसी प्रकार नागार्जुनी गुफा लेख (फलक II, स्त० XVII) के अक्षरो को अशोक के आदेश लेखो के अक्षरो से पृथक् किया जा सकता है। नागार्जुनी कोडा के लेखो मे ज, न, द, ल, अक्षर काफी विकसित हैं और इनमे खडी लकीरे काफी छोटी हो चुकी है।[2] डा० के० पी० जायसवाल 'हाथीगुम्फ' शिलालेख की लिपि को केवल ब्राह्मी मानते हैं, न मौर्य, न गुप्त और न शुङ्ग।

डा० बूलर गुप्त युग से पूर्व उत्तरी भारत की शैली को दो भागो मे विभक्त हुआ मानते है—एक है शुग लिपि, जिसमे उत्तरी क्षत्रप रजुवल का मथुरा लेख लिखा गया और दूसरी है कुषाण लिपि, जिसमे कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के लेख प्राप्त होते हैं। गुप्त युग के ही पूर्व–३५०ई०पू०, जब समस्त भारत की लिपि का नाम ब्राह्मी था, उत्तरी और दक्षिणी लिपियो के लेखो मे अन्तर प्रारम्भ हो गया था। उत्तरी भारत की शुगकालीन भरहुत वेदिका के लेख और दक्षिण के शासक सातवाहन के नासिक और नानाघाट के लेखो की लिपि मे स्पष्ट भिन्नता है, कम से कम समान तो नही है। मौर्यकालीन लिपि (अशोक लिपि) मे स्वर के चिन्ह अक्षर के सिरे पर या नीचे लगाये जाते थे, विसर्ग का नाम नही था और ऋ का सर्वथा अभाव था। सबसे पहले उनका प्रयोग ईसवी सन् १२०-२५ के उषवदत्त के नासिक लेख मे प्राप्त होता है। सयुक्ताक्षरो का निश्चित प्रयोग रुद्रदामन के ईसवी सन् १५० के लेख मे मिलता है।[3] इस प्रकार, ब्राह्मी एक नाम के होते हुए भी, उत्तर और दक्षिण, और उत्तर के भी विभिन्न भागो की लिपियो मे देशभेद और राज्य भेद के कारण भेद हो गया था। स्थान की कमी और अधिकता भी शैलियो के अन्तर का कारण बनी। पश्चिमी भारत के क्षत्रप और सातवाहन नरेशो के

---

१ डॉ० वासुदेव उपाध्याय, 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ २५१

२ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ६८

३ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ २५०-५१

मुद्रा लेखो मे नये अक्षर—श, य, स, ह, क्ष, म तथा इ सामने आये। सिक्को पर स्थान की कमी के कारण इस शैली को अपनाना पडा। यह सच है कि चौथी सदी तक आते-आते मौर्य लिपि मे आमूल परिवर्तन हुआ। चौथी सदी से छठी सदी तक नर्वदा के उत्तर मे प्रचलित लिपि को गुप्त लिपि कहा गया। अवश्य ही यह नाम गुप्त शासको के आधार पर आधृत था।[१]

गुप्त लिपि

गुप्त लिपि लोकप्रिय बनी। सर्वत्र उसका प्रचार होने लगा। सस्कृत भाषा ने उसे अपना माध्यम माना। जिह्वामूलीय और उपपध्मानीय का सर्वप्रथम उपयोग गुप्त लिपि मे ही देखने को मिलता है। इसका प्रमाण भिलसा के समीप उदयगिरि के एक लेख मे पाया जाता है।

गुप्त लिपि को मुख्य रूप से दो शैलियो मे विभक्त किया जा सकता है—एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी।[२] कुमार गुप्त प्रथम ने भिलसद् (एटा जिला) मे एक लेख खुदवाया था, जो पश्चिमी शैली का प्रतिनिधि लेख है। इसकी विशेषता है कि इसके स्वर बिलकुल स्पष्ट हैं। इन्ही के कारण आगे चल कर 'कुटिल लिपि' का आविर्भाव हुआ। मथुरा के जैनो के दान लेखो मे भी यही शैली प्रयुक्त हुई। मालवा के उदयगिरि का जैन अभिलेख और राजस्थान का विजयगढ अभिलेख भी इसी शैली मे आते हैं।[3]

पूर्वी शैली का प्रतिनिधि लेख प्रयाग का स्तम्भ लेख है। इसमे ल, स, ह, म अक्षरो का नया रूप दिखाई पडता है। इसी मे इ के लिए दो बिन्दु तथा सामने लम्बवत् रेखा का प्रयोग किया गया है। सभी अक्षरो मे कोण तथा शिरोरेखा पाई जाती है।[४] इससे आगे चल कर छठी शताब्दी मे सिद्धमातृका लिपि का विकास हुआ। बाध गया का ५८८–८९ का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि मे लिखा गया था। फ्लीट ने इस अभिलेख का सम्पादन किया है।[५] बूलर इसे न्यूनकोणीय लिपि कहते है। यह नाम देने के सन्दर्भ मे उनका कथन है, "इन रूपो की मुख्य विशेषता यह है कि इनमे अक्षर दाये से बाये को झुकते हैं। नीचे या दायी ओर आखिर मे एक न्यून-कोण बनता है। अक्षरो मे खडी या तिरछी रेखाओ के सिरो पर हमेशा छोटी-सी कील बनती है। अगली चार शताब्दियो के बहुसख्यक अभिलेखो मे ये विशेषताएँ मिलती है। इसलिए इस वर्ग के अक्षरो को मै न्यूनकोणीय अक्षर ही कहना उचित

१ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ २५१

2 Indian Antiquary, XXI, p. 29

३ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ९४

४ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन पृष्ठ २५२

५ देखिए गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, फ्लीट-सम्पादित

समझता हूँ।"[१] इसका भारतीय नाम सिद्धमातृका लिपि था। बरूनी ने इसे स्वीकार किया है और काश्मीर तथा बनारस मे इसका प्रचलन भी बताया है।[२]

बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि के विकास को तीन चरणो मे बाटा है। प्रथम चरण मे गया और लक्खामण्डल के अभिलेख, द्वितीय चरण मे आदित्यसेन की अफसड प्रशस्ति के अक्षर (सातवी सदी) और तीसरे चरण मे मुलताई ताम्रपट्ट (७०८-९) और सन् ८७६ का ग्वालियर का अभिलेख आते हैं। बूलर ने माना है कि आठवी दसवी शती मे न्यूनकोणीय अथवा सिद्धमातृका लिपि धीरे-धीरे विकसित होती-होती अपनी उत्तराधिकारिणी नागरी लिपि की ओर चली जाती है। नागरी के पुराने भारतीय रूप और इसमे सिर्फ इतना अन्तर है कि नागरी मे खडी लकीरो के सिरो पर कीलो के स्थान पर आडी रेखाएँ बनाते हैं।[3]

यह सच है कि सातवी शताब्दी से 'गुप्त ब्राह्मी' मे परिवर्तन आरम्भ हो गया था। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात्, राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई। उसका प्रभाव लिपि पर भी पडा।[४] लिपि के भी अनेक रूप हो गये, अर्थात् उसने अनेक रूप धारण कर लिए। इसे विकास भी कह सकते हैं। इनमे न्यूनकोणीय अथवा सिद्धमातृका लिपि की बात ऊपर कही जा चुकी है। सिद्धमातृका और नागरीलिपि मे बहुत थोडा अन्तर है, यह भी कहा जा चुका है। यहाँ नागरीलिपि के सम्बन्ध मे विशदता अभीष्ट प्रतीत होती है।

नागर लिपि

इसे नागरी या देवनागरी लिपि भी कहते हैं। इसके नामकरण के सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। कतिपय विद्वान् नागरी का सम्बन्ध नाग लिपि से जोडते हैं। नाग लिपि भारत की पुरानी लिपि है। उसका उल्लेख बौद्धो के 'ललित विस्तर' नाम के ग्रथ मे हुआ है। डा० एल० डी० बार्नेट के अनुसार नाग लिपि और नागरी लिपि मे कोई सम्बन्ध नही है।[५] दोनो मे नितान्त भिन्नता है। नाग लिपि से नागरी लिपि के विकास का कही कोई सूत्र नही मिलता। गुजरात के नागर ब्राह्मणो से इस लिपि का विकास मानना नितात अनुपयुक्त है। नाम साम्य का क्षीण सूत्र कोई ठोस आधार नही कहा जा सकता।। ऐसी सम्भावनाओ का शोध-खोज के क्षेत्र मे कोई स्थान नही है। इसी प्रकार यह मानना कि नगर से नागर लिपि का विकास हुआ, अपने मे ही व्यर्थ-सा है। कुछ विद्वानो का यह अभिमत कि—"देवभाषा सस्कृत

१ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १०२
२ इण्डिया I, १७३ (सचाऊ)
३ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १०३-४
४. हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८१
५ हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५८३

के लिखने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया, अत. इसे देवनागरी कहते है।"[1] कोहरे मे आछन्न-सा लगता है। एक प्रश्न उभरता है कि—क्या सस्कृत ही देवनागरी मे लिखी गई, प्राकृत और अपभ्रश नही ? फिर केवल सस्कृत के नाम पर ही उसका नामकरण क्यो हुआ ? इसका कोई समुचित समाधान नही मिलता।

देवनगर से देवनागरी की उत्पत्ति की बात श्री आर एम शास्त्री ने 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' जिल्द ३५ मे लिखी थी। उनका कथन है कि—"देवताओ की मूर्तियाँ बनने के पूर्व साकेतिक चिह्नो द्वारा उनकी पूजा होती थी। वे त्रिकोण, चक्रो आदि से बने हुए यन्त्रो के मध्य लिखे जाते थे। साकेतिक चिह्नो से युक्त ये यन्त्र देवनगर कहलाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के साकेतिक चिह्न कालातर मे उन-उन नामो के पहले अक्षर माने जाने लगे। देवनगर के मध्य उनका स्थान था, अत उनसे बनी लिपि देवनागरी के नाम से ख्यात हुई।" श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा शास्त्रीजी के इस कथन को गवेषणा-पूर्ण मानते है, किन्तु इसमे दिये गये तान्त्रिक पुस्तको के उद्धरणो के काल निर्णय के सम्बन्ध मे उन्हे सदेह है। उनका कथन है "जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तान्त्रिक पुस्तको से अवतरण दिये गये है, वे वैदिक साहित्य से पहले के है अथवा काफी प्राचीन है इस मत को स्वीकार नही किया जा सकता।"[2] किन्तु यह समझ मे नही आया कि ओझाजी को यह आग्रह क्यो है कि ये तान्त्रिक चिह्न वैदिक साहित्य से पूर्व के अथवा अत्यधिक प्राचीन ही होने चाहिए। न तो देवनागरी प्राचीन है न उसके विकास के मूल के ही प्राचीन होने की आवश्यकता है। वैसे देवताओ को लेख कहने की बात अत्यधिक प्राचीन है, शायद इस कारण कि घर-द्वारो पर रेखाओ से देवताओ के चित्र बनाने की प्रथा थी।[3] यह कोई तान्त्रिक क्रिया नही थी अपितु सर्वसाधारण मे प्रचलित रिवाज था। उन रेखाओ से लिपि का विकास हुआ और उसी क्रम मे देवनागरी भी एक है।

देवनागरी नाम जिस किसी भी कारण से पड़ा हो किन्तु उसका विकास सिद्धमातृका से हुआ, इसे सभी मानते है। इसमे सिरे की पडी रेखा लम्बी हो गई और अक्षरो मे लम्बी लकीर का समावेश हो गया। सिद्धमातृका से भिन्न सिरे की मात्राएं अधिकतर सीधी हो गई। सातवी सदी मे नागरी के स्वरूप का आभास मिलने लगा था, किन्तु नवी सदी से सर्वत्र नागरी मे लेख या पुस्तक लिखना आरम्भ

---

१ भाषाशास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृष्ठ ३१६

२ ओझा, प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ ३०

३ "लेख देव। लेख कस्मात् ? पुरा हि अनुमता दिव्याना देवाना विग्रहात्मिका रूपवर्णरचना भित्तिषु लिखित्वैव क्रियते स्मेति लेख।" देखिए जिनसहस्रनाम, 'लेखर्षभोऽनिल' की श्रुत-सागरीय व्याख्या।

हो गया। ग्यारहवी सदी तक तो उत्तरी भारत मे नागरी व्याप्त हो गई। उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, बगाल, राजपूताना मे सभी जगह नागरी मे अभिलेख तथा मुद्रालेख उत्कीर्ण किये गये।[१] गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान मे अनेक ग्रन्थ ताडपत्र पर लिखे मिले है, जो देवनागरी मे है।[२] सातवी शताब्दी के देवनागरी के प्राचीन अभिलेख उपलब्ध है।

देवनागरी अर्द्धअक्षरात्मक लिपि है। इसमे अडतालीस चिह्न है, जिनमे १४ स्वर एव सध्यक्षर तथा ३४ मूलव्यञ्जन शामिल है। इन व्यञ्जनो को ही अक्षर कहते है। यह सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है, जिसके अक्षर मे अ अर्न्तानिहित है। उसका पृथक उच्चारण नही होता। यह अग्रेजी और फारसी दोनो लिपियो मे अधिक पूर्ण और युक्तिसगत है। इसमे भारत-आर्यायी भाषाओ मे पाई जाने वाली प्राय सभी ध्वनियो के लिए अलग-अलग चिह्न है। चिह्नो की ऐसी स्पष्टता न रोमन लिपि मे है और न फारसी मे।[३] अग्रेजी और फारसी के सभी शब्दो को देवनागरी लिपि मे लिखा जा सकता है, किन्तु सस्कृत और हिन्दी के सब शब्दो को रोमन और फारसी लिपि मे नही लिखा जा सकता। इसी कारण स्वतत्रता के बाद देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित किया गया। कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस श्री शारदाचरण मित्र ने गत शताब्दी के अन्त मे ही देवनागरी की राष्ट्र-व्यापी सामर्थ्य की बात कही थी। आगे चल कर उसे राष्ट्रीय पद भी प्राप्त हुआ।

डॉ चटर्जी के शब्दो मे देवनागरी का भारत की अन्य प्रान्तीय लिपियो से सहोदर बहनो या चचेरी बहनो का-सा सम्बन्ध है। बगला-असमी, मैथिली उडिया, गुरुमुखी तथा देवनागरी एक-दूसरे से इतने निकट रूप मे सम्बद्ध है एव एक-दूसरे से इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि हम उन्हे एक ही लिपि की विभिन्न शैलियाँ तक कह सकते है। समस्त भारत मे सभी लिपियाँ देवनागरी लिपि की स्वगोत्र या कौटुम्बिक लिपियाँ ही सिद्ध होती है।[४] प्रसिद्ध डॉ एस एम कत्रे ने देवनागरी लिपि के वैज्ञानिक गठन तथा उसकी ऐतिहासिक महत्ता पर बल देते हुए उसे आधार के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। उनके विचार मे अन्य लिपियो के साथ देवनागरी की तुलना अनावश्यक है। उत्तरी और दक्षिणी भाषाओ की महान् लिपियो के बीच मे ही नही, भारतीय आर्य तथा द्रविड वर्गों की लिपियो के बीच मे भी देवनागरी ने

---

१ 'प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन', पृष्ठ २५३

२ 'हिन्दी भाषा उद्गम और विकास', पृष्ठ ५८८

३ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, १९५७, पृष्ठ २३८

४ वही, पृष्ठ २३३

एक कड़ी का काम किया है।[1] आचार्य विनोबा भावे भारत की सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखने के पक्ष में हैं। पिटमन के शब्दों में—संसार में यदि कोई पूर्ण वर्णमाला है, तो वह हिन्दी की है।

कुटिल लिपि

टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखे जाने के कारण इसे कुटिल लिपि कहते हैं। गुप्तलिपि में जो अक्षर लिखे जाते थे, कुटिल लिपि में उनके नीचे की ओर खड़ी रेखाएं बाँयी ओर मुड़ी है तथा स्वर की मात्राएँ टेढ़ी और लम्बी हो गई है। लिपि के लिए यह कुटिल शब्द 'देवललेख' (उत्तरप्रदेश) में देखने को मिलता है। वहाँ 'कुटिलाक्षराणि' लिखा हुआ है। 'विक्रमाक देवचरित' में भी कुटिल लिपि का उल्लेख है। बाद में, इसका दूसरा नाम पड़ा—विकटाक्षरा। गुप्त नरेश आदित्यसेन के अपसढ (गया जिला) और विष्णु-गुप्त के मंगराव (शाहाबाद जिला) लेख भी इसी विकटाक्षरा में लिखे गये है।[2] यह लिपि पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मनीपुर और नैपाल में प्रचलित थी। वहाँ के अधिकाश लेख इस लिपि में सम्बन्धित है।

यह कोई पृथक लिपि नहीं थी, इसी के अक्षरों में कुछ परिवर्तन कर नागरी और शारदा लिपियों का विकास हुआ था। आ, हलन्त और उप-ध्मानीय का प्रयोग तो दोनों में (कुटिल और नागरी) समान ही था। कोई अन्तर नहीं था। मदसौर, मधुवन और जोधपुर आदि लेखों में कुटिल लिपि के अक्षर देवनागरी से बहुत कुछ मिलते-जुलते है। कुटिल लिपि का समय छठी से नौवी सदी तक माना जाता है।

शारदा लिपि

पश्चिमी गुप्त लिपि से शारदा लिपि का विकास हुआ। आठ सौ ईसवी के आस-पास काश्मीर और उत्तर-पूर्वी पंजाब में इसका अस्तित्व पाया जाता है। इसके तीन रूप है—टक्री, लण्डा और गुरुमुखी। श्री ग्रियर्सन के अनुसार शारदा टक्री और लण्डा—तीनों एक लिपि से उत्पन्न होने के कारण भगिनी-स्वरूपा है किन्तु बूलर टक्री को शारदा से उत्पन्न मानता है। अर्थात् वह शारदा की भगिनी नहीं पुत्री थी। टक्री टक्क लोगों की लिपि थी। टक्क एक जाति थी जो प्राचीन साकल और आधुनिक स्यालकोट में रहती थी। इस लिपि के स्वर अपूर्ण है और इसके अनेक रूप पञ्जाब के उत्तर तथा हिमालय के निचले भागों में बोले जाते हैं। डॉ बूलर इसे जम्मू और

1. भाषा (पत्रिका), वर्ष ६, अंक ४, पृष्ठ ६
2. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृष्ठ २५२

उसके आस-पास के डोगरो की लिपि बतलाते है। उनकी दृष्टि मे अब तो इसका प्रचलन काश्मीर मे भी हो गया है।[1]

शारदा लिपि मे लिखे गये अभिलेखो मे सबसे प्राचीन कीरग्राम (कागडा) की दोनों 'बैजनाथ प्रशस्तियाँ' मानी जाती है। इनकी तिथि ८०४ ई है। प्राचीन भारत मे बहुत-से नागरी के हस्तलिखित ग्रथो के हाशियो पर टिप्पडियाँ शारदा लिपि मे दी हुई है।

शारदा लिपि के अक्षर कुषाण काल मे मिलते-जुलते है। उसकी लकीरे रूखी और मोटी होती है। डॉ बूलर का अभिमत है कि सातवी सदी से पहले शारदा लिपि गुप्तलिपि मे पृथक् नही हुई थी। इसके प्रमाण स्वरूप उन्होने शारदा लिपि मे द्विपक्षीय य के प्रयोग को, ण की आधार रेखा के दबने को, इ और ई की मात्राओ के क्रमश बाये और दाये खिचने को तथा जिह्वामूलीयो के सरलीकरण को प्रस्तुत किया है।[2]

ब्राह्मी से विकसित दक्षिणी लिपियाँ

दक्षिणी भारत की लिपियो के सम्बन्ध मे श्री रामधारीसिह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा है "द्राविड भाषाओ की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली है। ब्राह्मी का ज्ञान अशोक के समय दक्षिण भारत मे भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा अशोक ने अपने अभिलेख, दक्षिण मे भी, ब्राह्मी मे ही नही खुदवाये होते। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियो का आविष्कार किया, जिनमे से एक लिपि कन्नड हुई।"[3] एक ग्रन्थ है—कन्नड साहित्य का इतिहास, इसके लेखक है—श्री सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ। उन्होने तेलगु, कन्नड तथा तमिल के ब्राह्मी से विकसित होने की बात लिखी है। उनका कथन है, "तेलगु तथा कन्नड लिपियो मे अत्यल्प अन्तर है, उतना जितना कि देवनागरी और गुजराती लिपि मे। दो-तीन अक्षरो के सिवा बाकी सब अक्षर दोनो लिपियो मे समान है। अक्षरो के ऊपर की शिरोरेखा मे दोनो लिपियो मे जरा-सा अन्तर है। ब्राह्मी लिपि की वही शाखा, जिससे कन्नड लिपि निकली है, दक्षिण मे सिहल तथा पूर्व मे सुदूर जावा तक जा पहुँची। अत सिहल तथा बर्मा आदि की लिपियाँ कन्नड तथा तेलगु लिपि से मिलती-जुलती है। तमिल लिपि ब्राह्मी की एक दूसरी शाखा से निकली, अत कन्नड और तेलगु लिपि से भिन्न है। यो तो ब्राह्मी

---

१ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ११७

२ देखिए वही, पृष्ठ ११७-११८

३ सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४४

लिपि से निकली होने के कारण भारत की तथा एशिया की अन्य सभी लिपियो मे कुछ समानता है ?"[१]

डॉ बूलर ने तेलगु-कन्नड का विकास तीन क्रमो मे स्वीकार किया है। पहला क्रम वह है, जो कदम्ब अभिलेखो और दानपत्रो मे प्राप्त होता है। इनका समय ईसवी पाँचवी-छठी शती है। दूसरा विकास-क्रम चालुक्यो और राष्ट्रकूटो के अभिलेखो मे मिलता है। इनका समय सन् ६५० से ९५० तक है। विकास के तीसरे चरण को फ्लीट पुरानी कन्नड कहता है। इस लिपि के नमूने पूरब मे ११ वी शती के वेंगी के अभिलेखो मे और पश्चिम मे सन् ९७८ के गग अभिलेख मे उपलब्ध होते है। पुरानी कन्नड आधुनिक कन्नड मे अधिक भिन्न नही है। उसकी सब-से-बडी विशेषता है कि उसमे सभी मात्रिकाओ के ऊपर कोण बनते है। इन मात्रिकाओ मे ऊपर स्वर चिह्न नही लगते। ये कोण आधुनिक कन्नड से मिलते-जुलते है।[२]

तैलगु-कन्नड का प्रयोग बम्बई के दक्षिण भाग मे, आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर मे मिलता है। नौंवी सदी के कन्नड ग्रन्थ-कविराजमार्ग मे इसके दर्शन भलीभाँति होते हैं।

दक्षिण मे प्रचलित एक लिपि का नाम था, 'ग्रन्थ लिपि'। यह पूर्वी मद्रास के किनारे से प्राप्त एक प्राचीन संस्कृत अभिलेख मे मिली है। यह लिपि कांची मे पाचवी से नौवी सदी तक तथा चोल (उत्तरी मद्रास राज्य) मे नौवी से चौदहवी सदी तक प्रयुक्त होती रही। पल्लव राज्यवश के ताम्र-पत्र (सातवी सदी) ग्रन्थ लिपि मे ही लिखे गये थे। इसका नाम 'ग्रन्थ लिपि' इसलिए पडा कि आरकाट से केरल तक सभी ग्रन्थ इसी लिपि मे लिखे गये।[३] डॉ बूलर का कथन है कि तमिल जिलो की संस्कृत लिपियो को सामान्यतया 'ग्रन्थ लिपि' कहते है। इस लिपि के सबसे पुराने रूप पलक्कड और दशनुयव के पल्लव राजाओ के ताम्र पट्टो पर मिलते है। इसका आखिरी उदाहरण-बादामी का अभिलेख है। यह अभिलेख पल्लव नरसिंह प्रथम ने ६२६ से ६५० के बीच कभी खुदवाया था। 'ग्रंथ लिपि' के अक्षर पुरानी तेलगु-कन्नड से मिलते है। इस लिपि के शा या शी की ओर हुल्श ने ध्यान आकर्षित किया है, जो दसवी-ग्यारहवी शती के नागरी रूपो के समान है।[४]

तमिल के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वह पाँचवी सदी की ब्राह्मी से उत्पन्न हुई और ग्रन्थ लिपि से प्रभावित हुई।[५] मद्रास के भूभाग मे और माला-

---

१ कन्नड साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६

२ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १३५-१४०

३ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृष्ठ २५४

४ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १४४-४५

५ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ, १५३

बार प्रदेश के लेखो मे सातवी सदी से तमिल का प्रयोग होने लगा था। इसमे सयुक्त व्यञ्जन एक दूसरे से मिला कर नही, किन्तु पास-पास लिखे जाते है। इसमे कुल अठारह व्यञ्जन है, शायद इसी कारण, इसमे सस्कृत नही लिखी जा सकती। उसके लिए ग्रन्थ लिपि की आवश्यकता पडती है।[१]

तमिल की ध्वनियाँ पुरानी कन्नड और तेलगु के अनुरूप है, किन्तु चिह्न भिन्न है। इससे उसका पृथक अस्तित्व सिद्ध ही है। हुल्श ने जिन कूरम पट्टो की खोज की है, उनका बडा अश सातवी सदी की तमिल लिपि और भाषा मे है। हूल्श के कथनानुसार इसके अनेक अक्षरो मे उत्तरी लिपियो की विशेषताएँ है।[२]

तमिल लिपि का नमूना, कूरमपट्टो के बाद कशाकुडि पट्टो मे मिलता है। इनका समय सन् ७८० ई० के आस-पास माना जाता है। दसवी और ग्यारहवी शताब्दी के अभिलेखो मे तमिल लिपि एक परिवर्तित रूप मे मिलती है, शायद ऐसा ग्रन्थ के प्रभाव से हुआ है। ट, प और व हू-बहू ग्रन्थलिपि के रूप है। बूलर का कथन है कि ग्यारहवी सदी मे तमिल के क, ङ, च, त और न के सिरो के बाई ओर नीचे लटकती नन्ही लकीरे निकल आई है। १५ वी शती मे लटकनो का पूर्ण विकास हो गया। उत्तरकालीन तमिल अभिलेखो मे पहले तो विराम दुर्लभ हुआ, फिर गायब। अब फिर विराम का प्रयोग होने लगा है। उसके लिए एक बिन्दी लगती है।[३]

भास्कर रविवर्मन के अभिलेखो और ताम्रपट्टो मे वट्टेलुत्तु लिपि के दर्शन होते है। यह एक घसीट लिपि है। इसका तमिल से वही सम्बन्ध है, जैसे क्लर्को और सौदागरो की लिपि का अपनी मूल लिपि से होता है अथवा मराठो की मोडी का बालबोध से और डोगरो की टाकरी का शारदा से है। इसमे सभी अक्षर, एक ही बार मे, हाथ को बिना उठाये, बाये से दाये को लिखे जाते है।[४]

गगवशी राजाओ के दानपत्रो मे कलिग लिपि का प्रयोग हुआ था। इनका समय सातवी सदी से ग्यारहवी सदी तक माना जाता है। गगवशी राजा मद्रास के गजाम और कलिग मे शासन करते थे। वही इस लिपि का प्रचलन था। इसमे तेलगु, ग्रथ तथा नागरी लिपि का सम्मिश्रण हुआ है। इसके अक्षरो के सिरो पर सन्दूक की आकृति-सी बनती है।[५]

---

१ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृष्ठ २५४-५५

२ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १५०-१५१

३ वही, पृष्ठ १५३

४ वही, पृष्ठ १५४

५ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृष्ठ २५५

खरोष्ठी लिपि

लिपियो के नाना ढग थे। वे सभी ब्राह्मी नाम से अभिहित होते थे। प्राचीन जैन ग्रन्थो मे ऐसे अठारह ढगो का विवेचन मिलता है और ललित विस्तर नाम के बौद्ध-ग्रन्थ मे चौसठ का। इस सम्बन्ध मे ऊपर कहा जा जा चुका है, किन्तु अभी तक पुरातात्त्विक आधार पर और ग्रन्थो के लिखित रूप मे केवल दो ही लिपियाँ मिलती है—ब्राह्मी और खरोष्ठी। इनमे से ब्राह्मी के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। दूसरी लिपि थी खरोष्ठी, जो सर्वाधिक प्रचलित भारतीय लिपि थी। भारत के पश्चिमोत्तर भाग से लेकर मध्य एशिया तक इसके अवशेष मिले है।

नामकरण-सम्बन्धी विकल्प

खरोष्ठ दो शब्दो से मिलकर बना है—खर + ओष्ठ। इसका अर्थ है गधे के ओठ अथवा गधे-जैसे ओठ। एक मान्यता है कि इस लिपि के आविष्कर्ता का नाम खरोष्ठ था और शायद इसी कारण इस लिपि का नाम खरोष्ठी हुआ। दूसरा अभिमत है, उत्तर-पश्चिमी भारत मे खरोष्ठी नाम की एक जाति रहती थी, जो असभ्य और बर्बर थी। उसीके नाम पर खरोष्ठी नाम चल पडा। तीसरा अभिमत है कि खरोष्ठी शब्द, मध्य एशिया-स्थित काशगर का सस्कृत प्रतिरूप है। इस पर स्टेनकोनो का कथन है कि—"यद्यपि चायनीज तुर्किस्तान मे, खरोष्ठी के अनेक लिखित प्रमाण मिले है, किन्तु मैं ऐसा मानता हूँ कि वे भारतीय प्रवासियो-द्वारा ले जाये गये थे। वहाँ की लिखित सामग्री ईसा की दूसरी शती से पहले की नही है, जबकि भारत मे वह ईसा से तीन शताब्दी पहले की पाई जाती है।"[1] कुछ विद्वानो का कहना है कि यह ईरानी शब्द खरपोस्ट का भारतीय रूप है। खरपोस्ट गधे के चमडे को कहते है। ईरान मे इस पर लिखा जाता था। पाँचवाँ मत है कि खरोष्ट शब्द हिब्रू के खरोशेथ से बना। प्राकृत मे खरोशेथ का खरोट्ठ या खरोट्ठी हुआ और फिर सस्कृत मे खरोष्ठ। डॉ राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि गधे के चलते मुह के समान अनियमित और अव्यवस्थित होने से इस लिपि का नाम खरोष्ठी हुआ।[2] इन सब मान्यताओ के पीछे कोई सशक्त भूमिका नही है, ऐसा मै मानता हूँ।

---

१ स्टेनकोनो का अभिमत, 'The Origin of the Kharosthi Alphabet', 'Indian Palaeography', Dr. R B Pandey, p. 52-53.

2 "The script may have been called so due to the fact that most of the Kharosthi characters are irregular Elongated curves and they look like the moving lips of an ass (Khara) Originally it must have been a nick-name, which got currency in course of time

—Indian Palaeography, Dr. R B. Pandey, P.53.

सहस्रों वर्षों की परम्परा से अनुमोदित एक सम्भावना है कि 'खरोष्ठ' शब्द, 'वृषभोष्ठ' से बना। वृषभ का प्राकृत मे–उसभ>रिसभ, सस्कृत मे–वृषभ >ऋषभ, अपभ्रश मे वृषभ>रिखव हो जाता है । हिन्दी मे भी रिखब चलता है। वर्ण-विपर्यय से 'रिखबोष्ठी' का 'खरोष्ठी' बना। भाषा विज्ञान की दृष्टि से वर्ण-विपर्यय महत्त्वपूर्ण है । उससे शब्द कुछ-से-कुछ बनते रहे है। अत रिखबोष्ठी से खरोष्ठी को एक भाषा वैज्ञानिक व्युत्पत्ति कह सकते है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है वृषभदेव का सर्वमान्य व्यक्तित्व। ब्राह्मी लिपि के प्रसग मे उनका उल्लेख हो चुका है। उनकी दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी क्रमश उनके बायी और दायी ओर बैठी थी, अत उन्होने ब्राह्मी के बाये हाथ पर, अपने दाहिने हाथ से तथा सुन्दरी के दाये हाथ पर अपने बाये हाथ से लिखा । यही कारण था कि सुन्दरी को जो कुछ सिखाया गया, वह दाये मे बायी ओर चला। विशेषकर उसे गणित की शिक्षा दी गई और 'अङ्कानां वामतोगति' प्रसिद्ध हुआ। अभिधान राजेन्द्र कोश के 'उसभ' प्रकरण मे लिखा है—

"लेह लिवीविहाणं जिणेण बम्भीए दाहिणकरेण ।
गणिय सखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठ ।।'

टीका–"लेखन लेखो नाम सूत्रे नपुसकता प्राकृतत्वाल्लिपिविधान तच्च जिनेन भगवता वृषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमत एव तदादित आरभ्य वाच्यते। गणित नामैकद्वित्र्यादि सख्यान तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते।"[१]

इसका अर्थ है कि वृषभदेव ने ब्राह्मी को दाहिने हाथ से लिपि की शिक्षा दी और बाये हाथ से सुन्दरी को गणित और सख्या की शिक्षा दी। इससे ऐसा अनुमान सहज ही होता है कि ब्राह्मी लिपि के विपरीत, दाहिनी ओर से बायी ओर लिखी जाने वाली खरोष्ठी के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य दामनन्दि ने भी अपने 'पुराण सारसग्रह' के 'आदिनाथ चरित' मे "वामहस्तेन सुन्दर्य्या गणित चाप्यदर्शयत्"[२] लिखकर सुन्दरी को बाये हाथ से शिक्षा देनेवाली बात स्वीकार की है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' मे 'दर्शयामास सव्येन सुन्दर्या गणित पुन'[३] लिखा है और उससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

इससे खरोष्ठी के आर्मेडक से उत्पन्न होने का एक ठोस आधार खण्डित हो जाता है। डा बूलर और डिरिंजर का अभिमत है कि दाये से बाये लिखने की

---

१ अभिधान राजेन्द्रकोश, 'उसभ' प्रकरण, भाग २, पृष्ठ ११२६

२ आदिनाथ चरित, पुराणसार सग्रह, डॉ गुलाबचन्द चौधरी-सम्पादित, ३/१४

३ हेमचन्द्राचार्यकृत, त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित, १/२/६६३.

प्रवृति केवल आर्मेइक लिपि मे थी और खरोष्ठी को यह प्रवृत्ति उससे ही, ईसा से पाच शर्ती पूर्व प्राप्त हुई। इस कथन पर डा राजबली पाण्डेय की प्रतिक्रिया दृष्टव्य है—

"The direction of the Kharosthi from the right to the left is no guarantee that it was derived from the Semetic source as leftward movement of writing can not be regarded an absolute monopoly of the semetic people In a vast country like India the Evolution of two types of writing, one runing from the left to the right and the other from the right to the left was not impossible "[१]

दोनो प्रकार की लिखने की प्रणालियो का इतने वडे भारत देश मे प्रचलित होना असम्भव नही है, ऐसा उनका कहना है और यह कथन केवल सम्भावना-गर्भित है। पाण्डेयजी कोई प्रमाण नही दे सके थे, किन्तु जैन ग्रन्थो मे प्रमाण भी सहज उपलब्ध हो जाते है। यह सच है कि दाये से बाये लिखने के ढग पर आर्मेइक लिपि का एकाधिकार नही था। आर्मेइक से बहुत पूर्व सम्राट ऋषभदेव ने जहाँ बाये से दाये लिखना सिखाया, वहाँ दाये से बाये लिखना भी सिखाया।

इसके अतिरिक्त, ब्राह्मी के समान ही खरोष्ठी भी अक्षरात्मक लिपि है। इसमे व्यञ्जन के साथ-साथ स्वर भी वृत्त अथवा पडी रेखा के रूप मे आते है। आर्मेइक मे घ, ध और भ वर्णो का अभाव है, किन्तु खरोष्ठी मे इसके चिन्ह वर्तमान है। बूलर ने खरोष्ठी के लिपिचिन्हो की आर्मेइक से उत्पन्न होने की जो कल्पना की है,[२] वास्तव मे उसे एक कष्ट कल्पना ही कहना चाहिये।[3] विश्व की लिपियो के वर्ण, रेखाओ, अर्धवृत्तो और वृत्तो आदि से ही बनते है। इनमे आवश्यक परिवर्तन करके किसी भी लिपि को अन्य लिपि से उद्भूत कहा जा सकता है।[४]

एक बात अवश्य है कि ब्राह्मी मे दीर्घस्वर मौजूद थे, खरोष्ठी मे नही थे। विद्वानो का कथन है कि खरोष्ठी मे दीर्घस्वरो का अभाव प्राकृत-प्रयोग के कारण था। प्राकृत लोकप्रिय भाषा थी। उसमे दीर्घ स्वर नही थे। प्राकृत के लिखने मे ही खरोष्ठी का प्रयोग होता था, अत उसमे दीर्घस्वरो का न होना स्वाभाविक ही है। डा राजबली पाण्डेय का यह कथन—

"The absence of long vowels in the Kharosthi is due to avoid long vowels, big compounds and big ligatures-thus the

---

1 'Indian Palaeography, Dr R B Pandey, P. 55-56

२ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ३६-४१

3 "The close study of the comparative table will reveal that resemblance between the Kharosthi and the Armaic is very superflous and it does not warrant the derivation of the former from the latter"
—Indian Palaeography, Dr R B Pandey, P 55

४ हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५६०

so called common Characteristics of the kharosthi were due to its popular use and not due to any semetic influence "[१]

नितान्त सत्य है। खरोष्ठी मे दीर्घस्वरो के अभाव के पीछे सेमेटिक प्रभाव खोजना भारत मे मौजूद तथ्याशो से आँख फेरना है।

खरोष्ठी ब्राह्मी से प्रभावित थी, यह बात डा बूलर ने भी स्वीकार की है। उनका कथन है, "व्यञ्जनो मे अ की अन्तर्हित ध्वनि के लिए अलग चिह्न न लगाना और सयुक्ताक्षरो को बनाने के नियम नि सन्देह ब्राह्मी से लिए गए है। इनमे थोड़ी रद्दोबदल अवश्य हुई है। यह भी सम्भव है कि इ, उ, ए और ओ के लिए सीधी लकारो का प्रयोग भी ब्राह्मी से ही लिया गया हो, क्योंकि अशोक के सभी आदेश लेखो की ब्राह्मी मे उ, ए, और ओ के लिए सदा या बहुधा मामूली लकीरे लगाते है। गिरनार मे इ के लिए उथला भग बना देते हैं, जो सीधी लकीर-सा हा दीखता है। दोनो मे अन्तर करना प्राय कठिन होता है। ब्राह्मी मे खरोष्ठी की तरह ही इ, ए, और ओ की मात्राएँ व्यञ्जनो के सिरो पर और उ की मात्रा पैरो मे लगती है। इसलिए दोनो के स्वरमात्राओ मे परस्पर सम्बन्ध ह, इससे इनकार नही किया जा सकता। इसमे मूल चिह्न ब्राह्मी के ही है। खरोष्ठा मे सभी स्वर-हीन अनुनासिको के लिए ब्राह्मी की भाँति अनुस्वार का प्रयोग होता ह।"[२]

भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग मे खरोष्ठी का जन्म हुआ, ऐसा चीनी ग्रन्थो से स्पष्ट ही है। वहाँ यह भी लिखा है कि उसका जन्म-दाता कोई प्रतिभा-सम्पन्न भारतीय व्यक्ति था और उसका नाम शायद खरोष्ठ था।[3] 'शायद' शब्द उत्साहवर्धक है। खरोष्ठ मे खर शब्द ने गधे से सम्बन्ध मिलाने पर मजबूर किया। जैन परम्परा से सिद्ध है कि यह वृषभोष्ठ=रिखबोष्ठ=खरोष्ठ था, जिससे खरोष्ठी का जन्म हुआ। जो कुछ भी हो, यह उत्तर-पश्चिमी भाग मे छाई रही। पाँच सौ ईसा पूर्व इस प्रदेश पर फारस वालो का आधिपत्य था, यदि यह सत्य है तो यह भी सच है कि उनका डायरेक्ट शासन कभी नही रहा, वह सदैव इन-डायरेक्ट चला।[४] उन्होने खरोष्ठी को एक लोकप्रिय लिपि के रूप मे स्वीकार किया। यही कारण है कि उस काल की ईरानी मुद्राओ पर खरोष्ठी के शब्द अकित किये गये। जब मौर्यों का शासन आया तो उन्होने भी इस प्रदेश के लिए खरोष्ठी को ही मान्यता दी। अशोक ने मानसरा और शाहबाज़ गढ़ी के

---

1 Indian Palaeography, Dr R. B Pandey, P 56

२ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ ४७-४८

3. "Kharosthi script originated in the North-West part of India and as it is recorded in Chinese traditions, it was invented by an Indian genius whose nick-name was Kharostha, as the letters resemble ass-like

—Indian Palaeography, P 58

4. Indian Palaeography, Dr. R.B. Pandey, P. 56-57.

शिलालेखो मे खरोष्ठी के शब्द अंकित करवाये। मौर्यों के बाद बैक्ट्रियन, पार्थियन, शक और कुषाणो ने भी इसी लिपि को अपनाया। कुषाण सम्राट बौद्ध थे, अत उन्होंने धर्मप्रचार के सन्दर्भ मे पश्चिम और उत्तर की ओर, अर्थात् बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की ओर भारतीयो को भेजा। उनके साथ ही वहाँ खरोष्ठी लिपि भी गई। वहाँ के शिलालेख, जो खरोष्ठी मे लिखे मिलते है, भारतीयो ने खुदवाये थे। उस प्रदेश मे भारतीय भाषाओ के लिखने के लिए खरोष्ठी का ही प्रयोग होता था।[1]

पश्चिम और उत्तर के प्रदेशो मे, अर्थात् मध्य एशिया आदि मे खरोष्ठी के लेख प्राप्त हुए है, वे ईसा बाद दूसरी शताब्दी से पहले के नही हैं, जबकि भारत मे अशोक के, खरोष्ठी मे लिखवाये गये शिलालेख ईसा पूर्व तीसरी शती के उपलब्ध है। इस आधार पर खरोष्ठी को उत्तर-पश्चिम मे आया हुआ नही माना जा सकता।[2] उससे पहले के प्रमाण यहाँ उपलब्ध है। खरोष्ठी भारत की लिपि थी—भारत मे जन्मी और यहाँ ही विकास को प्राप्त हुई। गुप्त सम्राटो के शासन-काल मे, जबकि भारतीय एकता और राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ, तो उस समय की सर्वप्रचलित और व्यापक ब्राह्मी लिपि ने खरोष्ठी को अपदस्थ कर दिया और इस भाँति ईसा बाद चौथी सदी तक खरोष्ठी यहाँ प्रतिष्ठित रही।[3]

खरोष्ठी-लिपि

अ · 𐨀	आ · —	इ · 𐨀𐨁	ई · —	उ · 𐨀𐨂
ऊ · —	ए · 𐨀𐨅	ऐ · —	ओ · 𐨀𐨆	औ · —
क · 𐨐	ख · 𐨑	ग · 𐨒	घ · 𐨓	ङ · —
च · 𐨕	छ · 𐨖	ज · 𐨗	झ · 𐨘	ञ · 𐨙
ट · 𐨚	ठ · 𐨛	ड · 𐨜	ढ · 𐨝	ण · 𐨞
त · 𐨟	थ · 𐨠	द · 𐨡	ध · 𐨢	न · 𐨣
प · 𐨤	फ · 𐨥	ब · 𐨦	भ · 𐨧	म · 𐨨
य · 𐨩	र · 𐨪	ल · 𐨫	व · 𐨬	श · 𐨭
ष · 𐨮	स · 𐨯	ह · 𐨱	— · —	— · —

1 वही, पृष्ठ ५३

2 "Moreover, the manuscript and the documennts belong to a comparatively late date, none of them being apparently older than the second century A D In India on the other hand, the use of the Kharosthi can be traced back to the third century B C"

—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol II, P. XIV,
Indian Palaeography, Dr Pandey, P. 53.

३ हिन्दी भाषा उद्गम और विकास, पृष्ठ ५६२

खरोष्ठी लिपि मे निम्नवर्ण नही मिलते है—आ, ई, ऊ, ऐ, औ और ङ । इसके अतिरिक्त ऋ, ॠ, लृ, ॡ और सयुक्त व्यजन क्ष, त्र, ज्ञ, भी नही हैं ।

"ध्यायेदनादि सिद्धान्तविख्यातां वर्णमातृकाम् ।
आदिनाथमुखोत्पन्नां विश्वागम विधायिनीम् ।।"

—तत्त्वार्थसार दीपक सन्दर्भ, ३५

—अनादि सिद्धान्त के रूप मे प्रसिद्ध एव सम्पूर्ण आगमो की निर्मात्री, प्रजापति आदिनाथ (ऋषभदेव) के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए ।

वर्ण-विपर्यय

एक महान् वैदिक ऋषि का नाम जनता ने 'विश्वामित्र' रख दिया । किन्तु सस्कृत की सन्धि के अनुसार—विश्व + अमित्र = विश्वामित्र । विश्वामित्र शब्द का अर्थ 'समस्त जगत् का शत्रु' होता है जो उस ऋषि को अनादरसूचक अपशब्द (गाली) समान है । अत सस्कृत व्याकरणकार पाणिनि को 'विश्वामित्र' शब्द का अर्थ 'जगत् का मित्र' ठहराने के लिये, यानि जनता के अशुद्ध उच्चारण को शुद्ध घोषित करने के लिये एक नया सूत्र बनाना पडा ।

शेर सदा अन्य निर्बल प्राणियो की हिंसा किया करता है । अत मूलधातु के अनुसार उसका नाम 'हिंस' होना चाहिये, परन्तु जनता उसको 'सिंह' शब्द से उच्चारण कर रही थी, इस कारण व्याकरण को यह शब्द 'हिंस' के बजाय उलटे रूप मे 'सिंह' मानने के लिये बाध्य होना पडा, इसके लिये उसने लिखा 'सिंहे वर्ण विपर्यय ।'

पृषत् + उदर इन दो शब्दो को मिलकर सन्धि के नियमो के अनुसार 'पृषदुदर' पतली कमर वाला या पतले पेट वाला) शुद्ध रूप मे होना चाहिये, परन्तु जनता ने 'पृषोदर' शब्द अपना लिया, तब व्याकरण को जनता की इस अशुद्धि को भी शुद्ध ठहराने के लिये नया नियम बनाना पडा ।

सिन्धु को सिन्धु रहना चाहिए था, किन्तु वह हिन्दु हो गया । इसी प्रकार सप्ताह का हप्ता और सोम का होम बन गया । अत बहुत पहले ही यास्क को नियम बनाना पडा था—"अथ आदिवर्णविपर्ययोऽपि शब्दविपर्यास हेतुतयोपन्यस्तो यास्केन । अयमपि नियम सर्वभाषासाधारणो दृश्यते ।"

ह्रद को द्रह, गुह्यम् को गुय्ह, आलान को आणाल और अचलपुर को अलचपुर देखकर हेमचन्द्राचार्य ने अपने सिद्धहेमशब्दानुशासन मे वर्णविपर्यय की परिभाषा इस प्रकार लिखी, "किसी शब्द के स्वर, व्यञ्जन अथवा अक्षर जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं, तो इनके परस्पर परिवर्तन को विपर्यय कहा जाता है ।"

अंक लिपि

'अकाना वामतो गति ' की बात कही जा चुकी है। सम्राट ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को अक लिपि का ज्ञान करवाया था। वह दाहिनी ओर बैठी थी, अत सुविधानुसार उसके दाये हाथ पर, भगवान् ने अपने बाये हाथ से १, २, ३, ४ आदि अक लिखे, स्वाभावत वह दायी ओर से बायी ओर चली। तब से ही अको की 'वामगति' मानी जाती है। इन्हीं अको से सख्या और गणित शास्त्र का विकास हुआ। कुछ आचार्यों ने तो 'गणिय सखाण' शब्द का प्रयोग किया है। भगवती-सूत्र का 'गणिय सखाण सुन्दरी ए वामेण उवइट्ठ'[1] प्रसिद्ध ही है। आचार्य पुष्पदन्त के महापुराण मे भी 'दोहिं मि णिम्मलक च न वण्णह अक्खरगणिडयकण्णह'[2] लिखा मिलता है। आचार्य दामनन्दि ने तो 'वामहस्तेन सुन्दर्य्या गणित चाप्यदर्शयत्'[3] लिखा ही है। शत्रुञ्जय काव्य मे 'सुन्दरी गणित तथा'[4] प्रसिद्ध है। अक लिपि है, गणित शास्त्र है। यह सिद्ध है कि ऋषभदेव ने अपनी सुन्दरी को अकलिपि सिखायी थी। गणित अको पर ही आधृत है, अत परवर्ती आचार्यो ने उसे गणित ही कहा।

इस अवधारणा से, भगवानलाल इन्द्राजी का यह अभिमत कि ब्राह्मी के सख्याको का मूल भारतीय है,[5] पुष्ट होता है। दूसरी ओर, डॉ बूलर का यह मत कि इन चिह्नो सख्याको का विकास ब्राह्मण अध्यापको ने किया, क्योकि वे उपपध्मानीय के दो रूप प्रयोग मे लाते है, जो नि सन्देह शिक्षा के अध्यापको का आविष्कार है,[6] टिक नही पाता। यहाँ 'विकास' का अर्थ शायद 'उत्पत्ति' से है, तात्पर्य है कि ब्राह्मण अध्यापको ने अक लिपि का आविष्कार किया, किन्तु जैन उद्धरणो से सिद्ध है कि उसके जन्मदाता थे ऋषभदेव–ईसा से सहस्रो वर्ष पूर्व। तीर्थकर महावीर जिस कडी के अन्तिम छोर थे, ऋषभदेव उसके आदि थे। ये वही ऋषभदेव थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर श्रीमद्भागवत् तक मे पाया जाता है, जिनके दादा नाभिराय के नाम पर इस देश का नाम 'अजनाभवर्ष' और ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष पडा। ये वही ऋषभदेव थे, जिन्होने असि, मसि, कृषि मे यहाँ के रहने वालो को निष्णात बनाया और जिन्होने नाना कलाओ मे अपने पुत्र-पुत्रियो

१ अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग २, पृष्ठ ११२६

२ पुष्पदन्त, महापुराण, ५/१८

३ पुराणसार सग्रह, ३/१४

४ शत्रुञ्जय काव्य, ३/१३०

५ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १६८

६ वही, पृष्ठ १६६

और प्रजाजनो को कुशलता दी।[1] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, कोई श्रद्धा विग-लित पौराणिक गप्प नही।

इस अक प्रणाली को जैनाचार्यों ने आगे बढाया। उन्होने दाशमिक विद्या को जन्म दिया। जैन ग्रन्थ भण्डारो के ताडपत्र और भोजपत्रो के पृष्ठ-सख्याक इसके साक्षी है। कीलहार्न ने अपनी रिपोर्ट (१८८०-८१) मे लिखा है, "जैनो की ताडपत्रो की पोथियो और कागज के हस्तलिखित ग्रथो मे इनके दाशमिक अको के बहुत-से उदाहरण मिलते है।"[2] इस सन्दर्भ मे डा बूलर का एक कथन दृष्टव्य है, "अपनी पोथियो के पृष्ठाकन मे जैन और बौद्ध प्राय १ से ३ के लिए दाशमिक अको का प्रयोग करते है। पुस्तको के सख्याक सूचक अक्षर ए (एक), द्वि, त्रि या स्व (१), स्ति (२), श्री (३) मिलते है, पर दाशमिक अको से कम। 'स्वस्ति श्री' प्रसिद्ध मगलवाचक पद है, जिससे प्रलेखो का प्रारम्भ होता है। कभी-कभी एक ही प्रलेख मे दाशमिक प्रणाली के शून्य और अन्य सख्याको के साथ-साथ प्राचीन सख्याक सूचक चिन्ह भी मिलते है।"[3] इससे सिद्ध है कि जैन ग्रन्थो मे दाशमिक अको का प्रयोग अधिक-से-अधिक होता था। वे ही इसके आविष्कारक थे।

अको मे सख्या और सख्या से कालगणना का जैसा विवेचन जैन ग्रथो मे मिलता है, अन्यत्र नही। आचार्य यतिवृषभ का 'तिलोयपण्णत्ति' एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी रचना विक्रम की सातवी शताब्दी मे हुई, ऐसा विद्वानो का मत है। वह प्राकृत भाषा का एक सामर्थ्यवान् ग्रन्थ माना जाता है। उसमे काल और उसकी गणना का विवेचन है। आचार्य यतिवृषभ ने 'व्यवहार काल' की परिभाषा देते हुए लिखा है—

> "समयावलि उस्सासा पाणाथोवा य आव्रिया भेदा।
> ववहारकालणामा णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥२८४॥
> परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्सदिक्कमणमेत्तो।
> जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ॥२८५॥"
>
> —तिलोयपण्णत्ति ४।२८४-८५

अर्थ—समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण और स्तोक इत्यादि भेदो को वीतराग तीर्थंकर ने व्यवहार काल के नाम से निर्दिष्ट किया है। पुद्गल परमाणु का, निकट मे स्थित, आकाश प्रदेश के अतिक्रमण प्रमाण जो अविभागी काल है, वही 'समय' नाम से प्रसिद्ध है।

---

१ देखिए मेरा ग्रन्थ—भरत और भारत

२ कीलहार्न, रिपोर्ट आन दि सर्च फार सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, १८८०-८१, स० ५८

३ भारतीय पुरालिपिशास्त्र, पृष्ठ १६०

जैन ग्रन्थो मे, काल गणना से सम्बन्धित कतिपय पारिभाषिक शब्दो का **उल्लेख** हुआ है । उनमे समय, आवलि, उच्छ्वास-प्राण, स्तोक, लव, नाली, **मुहूर्त्त और** अहोरात्र मुख्य है। इनमे भी समय प्रमुख है, क्योकि यह सब से-**छोटा** काल-परिमाण होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पचास्तिकाय' मे समय की **परिभाषा देते** हुए लिखा है, "परमाणु प्रचलनायत्त समय ।"[1] अर्थात् परमाणु **मन्दगति से चलकर**, निकटतम प्रदेश मे जितने काल मे पहुँचता है, उसे समय **कहते हैं**। समय, आवलि, उच्छ्वास, स्तोक आदि की गणना का मूलाधार है। **इस सब** को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है[2]—

समय = मन्दगति से चलते हुए परमाणु को निकटतम प्रदेश मे पहुँचने का काल-परिमाण ।

आवलि = असख्यात समय परिमाण काल

उच्छ्वास = सख्यात आवलि = २८८०।३७७३ मेकिण्ड

स्तोक = ७ उच्छ्वास = ५ १८५/५३९ सेकिण्ड

लव = ७ स्तोक = ३७ ३१/७७ सेकिण्ड

३ लव = निमेष

नाली = ३८ १/२ लव = २४ मिनिट

मुहूर्त = २ नाली = ४८ मिनिट

अहोरात्र = ३० मुहूर्त = २४ घण्टे

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पचास्तिकाय में' 'नयनपुटघटनायत्तो निमिष '[3] कहा है। इसका अर्थ है कि जितने काल मे नेत्र की पलक खुले, वह निमिष कहलाता है। किन्तु, सब के मूल मे 'समय' के होने के कारण, काल का पर्यायवाची समय ही कहलाता है। जैनाचार्यों का कथन है कि समय अतिसूक्ष्म है, अत वह केवलज्ञानगम्य है। अवशिष्ट चार ज्ञान उस तक नही पहुँच पाते। स्थूल समय-समुदायो को काल-चक्र कहते है। यह व्यावहारिक है—प्रतिदिन के व्यवहार मे आता है।

कालचक्र मे चक्र शब्द, 'क्रियते गतिरनेनेति चक्रम्' से गति का सूचक ह। काल गतिशील है, प्रवाहमय है, सदैव चलता रहता है, कभी रुकता नही। 'सर्वार्थ-

---

१ पचास्तिकाय—२५

२ हीरालाल जैन सम्पादित—धवला, ३/३४

३ पंचास्तिकाय—२४

सिद्धि' में लिखा है, "देशाद्देशान्तरहेतुर्गति ।"[१] अर्थात् एक देश से दूसरे देश को प्राप्त करने का जो साधन है, उसे गति कहते है। राजवार्तिक मे गति की परिभाषा एक दूसरे प्रकार से भी दी है, "उभयनिमित्तवशाद् उत्पद्यमान' कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते ।"[२] इसका अर्थ है कि बाह्य और आभ्यन्तर निमित्त के वश से उत्पन्न होने वाला काय का परिस्पन्दन गति कहलाता है। इस गति का मूल उपलक्षण सूर्य है। सूर्य की आकृति चक्राकार है। उसे आदित्य मडल भी कहते है। ससार का कार्य व्यवहारपरक है और सूर्य उसका प्रतीक साधन है। इस आदित्यमण्डल मे बारह आरे लगे हुए है, जो सदैव घूमते रहते है। उन्हे ही बारह माह कहते है। इन बारह आरो मे छ ऊपर और छ नीचे लगे होते है और ऊपर-नीचे अर्ध-अर्ध वलय में घूमते है । मूल-चक्र इन्ही आरो पर आरोह-अवरोह करता है। इसी कारण सूर्य छ महीने उत्तर मे और छ महीने दक्षिण मे गति करता है। इसे उसका उत्तरायण और दक्षिणा-यन होना भी कहते है। इसी को उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल मे सूर्य क' तेज प्रबल हो जाता है, तब दिन लम्बे और रात छोटी होती है। अवसर्पिणी काल मे तेज अपक्षीण हो जाता है। अन्धकार का राज्य होता है। राते बडी होने लगती है। सूर्य की ये दोनो गतियाँ रोजाना के दिन पर भी लागू होती है। प्रात से मध्याह्न तक सूर्य का उत्सर्पण और फिर साध्य तक अवसर्पण होता है। उत्सर्पण काल मे प्राणियो मे आशा, उत्साह, साहस, बुद्धि और बल का उत्कर्ष रहता है, इसके पश्चात् अवसर्पण काल मे अनुत्साह, आलस्य और निराशा को जन्म मिलता है। सूर्य के उदय और अस्त का प्रभाव मनुष्य के भावो पर पडता है—कैसे और क्या, जैन ग्रन्थो मे लिखा मिलता है।

ससार मे दो ही बाते है—सुख या दुख। जैन आचार्यों ने सुख और दुख के सन्दर्भ मे समूचे काल को आदित्यमण्डल[३] के बारह आरो की भाति बारह भागो मे विभक्त किया है। वे बारह भाग इस प्रकार हैं—"सुखमा-सुखमा,

१ मर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५१, अध्याय ४, सूत्र २१, पृष्ठ २५२

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, वि स २००८, अध्याय ४,सूत्र २१, पृष्ठ २३६, पंक्ति १. (प्रथम) मिलाइए —"गइकम्मविणिव्वता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीवा दु चाउरग गच्छंति त्ति य गई होई ॥"
अर्थ—गति नामकर्म के उदय से जीव की जो चेष्टाविशेष होती है, उसे गति कहते हैं, अथवा जिसके निमित्त से जीव चतुर्गति मे जाते हैं, उसे गति कहते हैं।
सत्प्ररूपणासूत्र, वर्णीग्रन्थमाला, वाराणसी १९७१, पृष्ठ ८

३ "वर्षायनर्तुयुग पूर्वकमत्र सौरात् ।"
भास्कराचार्य सिद्धान्त शिरोमणि, कालमानाध्याय-३१

सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा, दुखमा-दुखमा । दुखमा-दुखमा, दुखमा, दुखमा-सुखमा, सुखमा-दुखमा, सुखमा, सुखमा- सुखमा ।।''[१] इसको एक चक्र की आकृति के माध्यम से भलीभाँति समझा जा सकता है—

जैनाचार्यो ने जितना अध्यात्म पर बल दिया, उतना ही गणित पर। उनके ग्रन्थो मे समुन्नत गणित के दर्शन होते है। आज उसको समझने और जानने की आवश्यकता है। यदि गणित के अनुसन्धित्सु जैन ग्रन्थो को देखे, तो निसन्देह नये अध्याय मिलेगे। उससे प्राचीन भारत के अन्धकार पक्ष पर अधिकाधिक प्रकाश पड सकता है। जिनेन्द्र वर्णी ने अपने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' मे लिखा है, ''यद्यपि गणित एक लौकिक विषय है, परन्तु आगम के करणानुयोग विभाग मे सर्वत्र इसकी आवश्यकता पडती है। कितनी ऊँची श्रेणी का गणित वहाँ प्रयुक्त हुआ, यह बात उसको पढने से ही सम्बन्ध रखती है।[२]

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री-विवेचित, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृष्ठ १५७-१५८

२. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ २१३

महावीर-कालीन गणित के भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ने की बात श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन ने अपने निबन्ध 'भारतीय लोकोत्तर गणित के शोध-पथ' मे लिखी है। वर्द्धमान का तीर्थंकाल एक स्रोत था, जिसका प्रवाह पूर्व मे दूर तक गतिशील रहा तो पश्चिम मे भी उसकी गति निर्बाध बही। वह एक मिलन था—केन्द्रस्थल। पश्चिम मे अरस्तू (३८४-३२२ ई पू.) ने आत्माओ के श्रेणि-सिद्धान्त की प्ररूपणा की तो पूर्व मे—चीन मे शुइन-त्सू (२९८-२३८ ई. पू.) ने भी ऐसा ही सिद्धान्त प्ररूपित किया और यही सिद्धान्त भारत मे, जीवो के मार्गणा स्थान के रूप मे मिलता है। पश्चिम से पूर्व तक की इन अवधारणाओ का मध्यस्रोत महावीर का तीर्थकाल ही हो सकता है। इसी प्रकार भारत के एक ओर पायथेगोरस और दूसरी ओर कन्फ्यूशस की विचार-क्रान्ति के मिलन-सूत्र भी महावीर ही थे। पायथेगोरस अहिंसा प्रेमी था और महान गणितज्ञ। उन्होने जीव सख्या की निश्चलता के आधार पर जनता को मासाहार की ओर से मोडकर शाकाहारी बनाने का प्रयत्न किया था। चीन मे यही बात कन्फ्यूशस-काल मे मिलती है। दोनो मे कोई अन्तर नही है। मिश्र मे भी इसी युग मे अहिंसक परम्पराओ का अनुसरण किया जाने लगा था। शायद अहिंसा-प्रेम ही पायथेगोरस को पूर्व की यात्रा मे सलग्न बना सका था।[1] महावीर का तीर्थ-काल अनूठा था, मूल्यवान था और विश्व की विचार-क्रान्ति का एक ठोस आधार।

गणित के सन्दर्भ मे जैन प्राकृत और सस्कृत ग्रन्थ प्राचीन तो है ही, सूक्ष्मता की दृष्टि से भी अवलोकनीय है। उनमे धवला, अनुयोग द्वार, चरित पाहुड, तिलोयपण्णत्ति, जम्बूदीवपण्णत्ति, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, राजवार्त्तिक, त्रिलोकसार, हरिवश पुराण, महापुराण और अर्थ सदृष्टि प्रमुख हैं। महावीराचार्य[2] नाम के एक विद्वान् ने ई सन् ८१४-८७८ मे, 'गणित-सार सग्रह', एक सस्कृत ग्रन्थ की रचना की थी। कणाद से प्राय दो सौ वर्ष पूर्व एक आचार्य उमास्वाति हुए है। उन्होने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की। उसमे पुद्गल के अविभागी प्रतिच्छेद की चर्चा है। अनत

---

१ श्री लक्ष्मीचन्द जैन, भारतीय लोकोत्तर गणित विज्ञान के शोधपथ, भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २२५

२ महावीराचार्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गणितसार सग्रह' मद्रास गवर्नमेण्ट ने, १९१२ मे मद्रास से, मि० रङ्गाचार्य एम० ए० रायबहादुर के अग्रेजी अनुवाद और डॉ० यूजीन स्मिथ की भूमिका के साथ प्रकाशित किया था। भूमिका से स्पष्ट है कि महावीराचार्य के अनेक करणसूत्र, लीलावती के रचयिता भास्कराचार्य (१११४-११८४) के सूत्रो से अधिक सुगम, सही और पूर्ण हैं। यह ग्रन्थ एक अधिकार और आठ व्यवहारो मे विभक्त है।

विभाज्यता का खण्डन करने वाले जीनो के तर्क और मोशिग (३७० ई. पू) की बिन्दु की परिभाषा जैन प्राकृत ग्रन्थो मे सुरक्षित मिलती है। इसके अतिरिक्त, "प्राकृत ग्रन्थो मे अविभाग प्रतिच्छेद को इकाई लेकर यथार्थ अनन्तो का अल्पबहुत्व सरचित किया गया है।"[1] वास्तविकता यह है कि गणित से सम्बन्धित हस्तलिपियो और शिला-लेखो की खोज अत्यावश्यक है। वे यहाँ थी, यह सुनिश्चित है। आचार्यकल्प टोडरमलजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड की टीकाओ मे उनका प्रयोग किया है। टीकाएँ मूलग्रन्थ से जुडी होती है। उनमे खुलकर लिखने का अवसर कम ही मिल पाता है। इसी कारण शायद टोडरमलजी को 'अर्थ सदृष्टि' ग्रन्थ रचने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसमे उनकी सकलित की हुई समूची सामग्री का प्रयोग देखने को मिलता है। इसमे उन्होने "ऋण-प्रतीक के लिए पाँच चिह्नो का प्रयोग और विभिन्न अर्थो मे शून्य का प्रतीकबद्ध प्रयोग बतलाया है। इसमे प्रयुक्त कुछ प्रतीक गिरनार तथा अशोक काल से पूर्व के शिलालेखकालीन प्रतीत होते है।"[2] इससे सिद्ध होता है कि उन्होने कुछ पुरातन शिलालेखो को भी देखा था, जो अब उपलब्ध नही हो रहे हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और त्रिलोकसार मे गणित-विषयक १० (दस) प्रक्रियाओ का उल्लेख हुआ है— १ अको की गति वामभाग मे होती है, २ परिकर्माष्टिक के नाम निर्देश, ३ सकलन व व्यकलन की प्रक्रियाएँ, ४ गुणकार व भागहार की प्रक्रियाएँ, ५ विभिन्न भागहारो का निर्देश, ६ वर्ग व वर्गमूल की प्रक्रिया, ७ घन व घनमूल की प्रक्रिया, ८ विरलनदेय घातोक की प्रक्रिया, ९ भिन्न कर्माष्टक (Fraction) की प्रक्रिया, १० शून्य परिकर्माष्टक की प्रक्रिया।[3]

गोम्मटसार जीवकाण्ड और अर्थसदृष्टि मे पदार्थो और अक्षरो मे अको को जानने की विधि का उल्लेख मिलता है। 'अर्थ सदृष्टि' मे टोडरमलजी ने लिखा है "तहाँ कही पदार्थनि के नाम करि सहनानी है। जहाँ जिस पदार्थ का नाम लिखा होई तहाँ तिस पदार्थ की जितनी सख्या होइ तितनी सख्या जाननी। जैसे विधु =१ क्योकि दृश्यमान चन्द्रमा एक है। निधि=९ क्योकि निधियो का प्रमाण ९ है।"[4] अक्षर मे अक की बात लिखते हुए एक दूसरे

---

१ भिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २२३

२ वही, पृष्ठ २२४-२५

३ जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ २१३-१४

४ अर्थसदृष्टि, १/१३

स्थान पर उन्होने कहा है, "बहुरि कही अक्षरनिकौ अकनि कौ सहनानी करि सख्या कहिए हैं। ताका सूत्र-कटपय पुरस्थवर्णै नवनव पञ्चाष्ट कल्पितै क्रमश । स्वर-व्यञ्जन शून्य मख्यामात्रो परिमाक्षर त्याज्यम् । अर्थात्—

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	(ये नौ)
१	२	३	४	५	६	७	८	९	
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	(ये नौ)
१	२	३	४	५	६	७	८	९	
प	फ	ब	भ	म	(ये पाँच)				
१	२	३	४	५					
य	र	ल	व	श	ष	स	ह		(ये आठ)
१	२	३	४	५	६	७	८		

बहुरि अकारादि म्वर वा ञ वा न करि बिन्दी जाननी । वा अक्षर की मात्रा वा कोई ऊपर अक्षर होइ जाका प्रयोजन किच्छु ग्रहण न करना ।"[१]

तात्पर्यार्थ—तात्पर्य यह है कि अक के स्थान पर कोई अक्षर दिया हो तो वहाँ व्यञ्जन का अर्थ तो उपर्युक्त प्रकार से १, २ जानना । जैसे कि ङ, ण, म, श इन सब का अर्थ ५ है और स्वरो का अर्थ बिन्दी जानना । इसी प्रकार कही ञ या न का प्रयोग हुआ तो वहाँ भी बिन्दी जानना । मात्रा तथा सयोगी अक्षरो को सर्वथा छोड देना । इस प्रकार अक्षर पर से अक प्राप्त हो जायेगा ।

इससे स्पष्ट है कि अक लिपि, ब्राह्मीलिपि (अक्षरात्मिका) से प्रभावित थी । अक्षर और अको का यह सहगमन आगे चलकर अध्यात्म और गणित के समन्वय का सूत्र बना । महावीर के तीर्थकाल मे आदर्श को तौलने के लिए लौकिक गणित एक साधन के रूप मे प्रयुक्त हुआ । उससे अनन्त और सलागा गणन मापा जाने लगा । आत्मा, अध्यात्म और जीव आदि की कोटियाँ और उनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओ की रचना मे लौकिक गणित की सहायता ली गई । यही कारण है कि जैनाचार्यों ने यदि एक ओर अध्यात्म की सूक्ष्म विवेचना की तो दूसरी ओर गणित का भी सूक्ष्म और सर्वाङ्ग विश्लेषण किया । वे यह कर सके, क्योकि ऐसा उनके खून मे भिदा था । 'अक्षर' सम्राट ऋषभदेव के दायी ओर था और 'अक' बायी ओर । दोनो एक पिता की सन्ताने । परस्परानुपेक्षी सम्बन्ध स्वाभाविक था । इसकी पुष्टि जैन प्राकृत और सस्कृत ग्रन्थो से होती है ।

---

१ अर्थ सदृष्टि, १/१३

विश्व भाषाओं की लिपि-संख्या

"त्रिषष्ठि चतुष्षष्ठिर्वा वर्णा शम्भुमते मता ।
प्राकृते सस्कृते चैव स्वय प्रोक्ता स्वयभुव ।।"

पाणिनीय शिक्षा ३

लिपि-तालिका	मूलवर्ण
१ प्राकृत	६४
२ सस्कृत	६३
३ उर्दू	३६
४ रूसी	३६
५ अपभ्रश	३४
६ हिन्दी	४५
७ फारसी	३२
८ अरबी	२८
९ तुर्की	२८
१० स्पेनी	२८
११ लेटिन	२६
१२ जर्मनी	२६
१३ फ्रासीसी	२५
१४ ग्रीक	२४
१५. इटालियन	२०
१७ चीनी	२१४

इसके अतिरिक्त एक-एक देश मे प्रान्तो के हिसाब से विभिन्न भाषाएँ है, जैसे भारत मे बगला, तमिल, उडिया, तैलगु, मराठी, कन्न ड आदि ।

भारतीय लिपिमाला-स्वर और व्यञ्जन

"तेत्तीस वेंजणाइं, सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारिय जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ ।।"

—आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, १/३५२

तेंतीस व्यञ्जन, सत्ताईस स्वर और चार योगवाह चौसठ मूल वर्ण हैं ।

२७ स्वर

ह्रस्व स्वर

जिनके उच्चारण मे एक मात्रा-काल लगता है ।

अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ।

दीर्घ स्वर

जिनके उच्चारण मे दो मात्रा-काल लगता है ।

आ ई ऊ ॠ लॄ ए ऐ ओ औ ।

प्लुत स्वर

जिनके उच्चारण मे तीन मात्रा-काल लगता है ।

आ ई ऊ ॠ लॄ ए ऐ ओ औ ।

३३ व्यजनाक्षर

२५ पचवर्गाक्षर

क् ख् ग् घ् ङ् ।
च् छ् ज झ ञ् ।
ट् ठ् ड् ढ् ण् ।
त् थ् द् ध् न् ।
प् फ् ब् भ् म् ।

८ पर वर्णाष्टिकम्

य् र् ल् व् ।
श् ष् स् ह् ।

प्राकृत भाषा की ब्राह्मी वर्णमाला मे ३३ व्यञ्जन, २७ स्वर और ४ योगवाह मिलाकर ६४ मूल वर्ण होते हैं । सस्कृत भाषा की अक्षरमाला मे ६३ मूलवर्ण होते हैं । उसमे 'लॄ' का प्रयोग नही होता, अवशिष्ट ३३ व्यञ्जन, २६ स्वर और ४ योगवाह होते है ।

आचार्य आशाधर-विरचित

चौबीस तीर्थंकर अक्षर-माला स्तोत्र

अ	अमरनरपतिसमितिकृतपादपीठाय ।
आ	आदित्यकोटिरुचि**वृषभ**जिनराजाय ॥१॥
इ	इतिहासमासिबहुजयरत्नकोशाय ।
ई	ईश्वरश्रीगण**भृदजित**परमेशाय ॥२॥
उ	उदधिसमधैर्याय बधुरनिवासाय ।
ऊ	ऊर्जितज्ञानपति **संभव** जिनेशाय ॥३॥
ऋ	ऋविहितनुतिलसदभिनदजिनेशाय ।
ॠ	ॠविहितनुतिलस**दभिनदन**जिनेशाय ॥४॥
लृ	लृस्तुतिक्रमकरण परमगुरुनाथाय ।
लॄ	लॄपूजितप्रमद**सुमति**यतिनाथाय ॥५॥
ए	एकातवादिमद कुजरमृगेशाय ।
ऐ	ऐश्वर्यबोध निधि**पद्म**प्रमेशाय ॥६॥
ओ	ओरचितचरणवर**सुपार्श्व**नाथाय ।
औ	औविकारविहितमहामति सुपार्श्वाय ॥७॥
अं	अरुपपरिपूर्णजगदेकनाथाय ।
अः	अः श्रवत्यक्तमद **श्रीचन्द्र**नाथाय ॥८॥
क	करुणारससारकृतमत्यनताय ।
ख	खलकर्म निरूहपटु**पुष्पदता**ख्याय ॥९॥
ग	गजवैरिविष्टराधिपभूतलेशाय ।
घ	घद्विरदहरिराजसमशोनलेशाय ॥१०॥
ङ	ङप्रस्तुतत्रिकरणभद्राय ।
च	चरणप्रणीतात्मश्रेयोजिनेंद्राय ॥११॥
छ	छत्रत्रयालकृतश्रेयोराज्याय ।
ज	जन्मादिभीतिविरहितवासुपूज्याय ॥१२॥

झ	झटितिनिश्चयितार्थ सुज्ञान विमलाय ।
ञ	ञप्रक्षयीभूतकीर्तिधरविमलाय ॥१३॥
ट	टक्यादिकीर्तिपरिपूर्णजगदताय ।
ठ	ठप्रमुखनरहितनुतिलसदनताय ॥१४॥
ड	डमुरासनायोगजितकर्मधर्माय ।
ढ	ढक्कादिवाद्यखमहित जिनधर्माय ॥१५॥
ण	णहधातुबाच्यविरहितशांतिनाथाय ।
त	तत्वविद्यामृतोदधि शातिनाथाय ॥१६॥
थ	थत्यागनिर्मलीकृतकुथुनाथाय ।
द	दर्शनादित्रयोर्जित कुथुनाथाय ॥१७॥
ध	धनदविरचित समवसरणवरनाथाय ।
न	नलिनरुचिपद विमलाऽरजिननाथाय ॥१८॥
प	परमपदसुखमयमुदमल्लिनाथाय ।
फ	फणिपतिकृतेज्याधिपतिमल्लिनाथाय ॥१९॥
ब	बस्वादि विशदमरकीर्तिपरमेशाय ।
भ	भवभारभीतिहर मुनिसुव्रतेशाय ॥२०॥
म	महनीयगुणनिवहभूषनमिनाथाय ।
य	यमनियमपरिकलितहृदय नमिनाथाय ॥२२॥
र	रजतगिरिहरहसीतसितकीर्तिनाथाय ।
ल	ललितगुणगणजलधिविधि नेमिनाथाय ॥२२॥
व	वसुधाधिपतिकोटिनुतपार्श्वनाथाय ।
श	शतपत्रपीठरजित पार्श्वनाथाय ॥२३॥
ष	षड्दर्शनस्तोत्रशतवर्धमानाय ।
स	सप्तभगी महोदयवर्धमानाय ॥२४॥
ह	हरिहरहिरण्यगर्भस्तोत्रपात्राय ।
	दक्षिणाधिपतिविमलबोधवरनेत्राय ॥२५॥

अकारादि अक्षर : वर्ण तथा फल

ध्यायेदनादि सिद्धान्त प्रसिद्धा वर्णमातृकाम् ।
नि शेष शब्द विन्यास जन्मभूमि जगन्नुताम् ॥

अकार चन्द्रकान्ताभ सर्वज्ञ विश्वयोनिकम्ज ।
सर्वसिद्धिप्रद ध्यायेत्समर्थं सर्वकर्मसु ॥१॥

आकार श्वेतवर्णं तु सर्व लोक वशकरम् ।
विश्वस्य स्वामिन ध्यायेत्समर्थं बहु कर्मसु ॥२॥

इकार चिन्तयेन्मन्त्री जवाकुसुम सन्निभम् ।
विश्वचक्षुस्तया सर्व समर्थं बहुकर्मसु ॥३॥

ईकार रक्तवर्णं तु स्मरस्य जननी विदु ।
अनत सुखद देव समर्थ बहु कर्मसु ॥४॥

उकार कृष्णवर्णं तु सस्मरेत् विश्वमूर्तिकम् ।
औपासनस्य वरद ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु ॥५॥

ऊकार पीतवर्णं तु सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
स्मरेद्विश्वमुख मन्त्री सर्वविघ्न विनाशकम् ॥६॥

ऋकार नीलवर्णं तु विश्वविद्याधिनायकम् ।
चिनायेच्च महामन्त्री समर्थं बहुकर्मसु ॥७॥

ॠकार कृष्णवर्णं तु विश्वात्म सर्वलोकजित् ।
मन्त्रिणा वरद ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥८॥

लृकार तद्विश्वभव सुवर्ण-सदृश-प्रभम् ।
मन्त्रिणा वरद ध्यायत् समर्थं बहुकर्मसु ॥९॥

महाकाय विश्वदृश सर्वविघ्नविनाशकम् ।
लॄकार चिन्तयेत्ध्यानी समर्थं बहुकर्मसु ॥१०॥

महाशूर विश्वविद कुदपुष्प सत्विषम् ।
एकार चिन्तयेन्मन्त्री समर्थं बहुकर्मसु ॥११॥

एंकार विमलं ध्यायेद्विश्वज्ञानात्मक शुभम् ।
मन्त्रिणा वरद ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥१२॥

ओकार पचवर्णं तु परमात्म स्वरूपकम् ।
सर्वात्मवरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥१३॥

विश्वविद्याधिप ध्यायेन्सर्वभूतवश करम् ।
औकार वरद ध्यानो समर्थं बहुकर्मसु ॥१४॥

अकार तारकावर्णं चिन्तयेद् विश्वशक्तिदम् ।
मन्त्रिणा वरद ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु ॥१५॥

अ कार स्फटिकाकारमनन्तात्म स्वरूपकम् ॥१६॥

ककार पद्मरागाभ तत्पुरुषमधिदैवतम् ॥१७॥

खकार नीलवर्णं तु जिनराजाधिप शुभम् ॥१८॥

गकार तु हरिद्वर्णं कर्मठाधिपमेव च ॥१९॥

घकार काञ्चनाकार वीग्देव समाह्वयम ॥२०॥

ङकार पूर्णचन्द्राभ क्षेत्रज्ञाधिपपूजितम् ॥२१॥

चकार रजनाभ तु अघोरमधिपत्थकम् ॥२२॥

छकार त्विक्षुपत्राभ अमृतात्मस्वरूपकम् ॥२३॥

जकारमशितशस्त विजयाधिप दैवतम् ॥२४॥

झकार रक्तवर्णं तु अच्युताधिपदैवतम् ॥२५॥

ञकार चम्पकावर्णं सर्वज्ञाधिपदैवतम् ॥२६॥

टकार कारिकावर्णं सद्योजाताधिपत्यकम् ॥२७॥

ठकार शुभ्रवर्णं तु देवागेन समन्वितम् ॥२८॥

डकार स्वर्णवर्णं तु चिन्तितार्थस्वरूपकम् ॥२९॥

ढकार श्वेतवर्णं तु स्थाणुराधिप दैवतम् ॥३०॥

णकार पद्मवर्णं तु परमेष्ठिस्वरूपकम् ॥३१॥

तकार शखवर्णं तु वामदेवाधिपत्यकम् ॥३२॥

थकार शस्तवर्णं तु विष्णुदेवाधिपत्यकम् ॥३३॥

दकार कुकुमाकार कालाधीशाधिपत्यकम् ॥३४॥

धकार नीलवर्णं तु शिवनामाधिपत्यकम् ॥३५॥

नकार पचवर्णं तु प्रसन्नाधिपपूजितम् ॥३६॥
पकार पकजाभ तु ईशानाधिप मभृतम् ॥३७॥
फकार प्रस्तुत वर्णं सिद्धानामाधिपत्यकम् ॥३८॥
बकारमिन्द्रचापाभ वृषभाधिप सस्कृतम् ॥३९॥
भकार ताम्रवर्णं तु नित्यदेवासुरार्चितम् ॥४०॥
मकार शुक्लवर्णं तु भवनाधिप सस्कृतम् ॥४१॥
यकार कृष्णवर्णं तु महाप्राण समन्वितम् ॥४२॥
रकार रक्तवर्णं तु स्वाहाधिप समन्वितम् ॥४३॥
लकार पीतवर्णं तु इन्द्रदेव समर्चितम् ॥४४॥
वकार श्वेतवर्णं तु वारुण्यमधिदैवतम् ॥४५॥
शकार नीलवर्णं तु सर्वाम्बर समर्चितम् ॥४६॥
षकार बहुवर्णं तु वाचस्पत्याधि दैवतम् ॥४७॥
सकार क्षीरवर्णं तु गम्भीराधिप मभृतम् ॥४८॥
हकार सर्ववर्णं तु मन्त्रमूर्ति समन्वितम् ॥४९॥

सर्वात्मक महाकार सर्वज्ञ सर्वशक्तिकम् ।
सर्वमन्त्र मुख ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु ॥१॥

वाग्भव चन्द्रकान्ताभ मतिज्ञानात्मक शुभम् ।
जिनेन्द्र सदृश ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु ॥२॥

रक्ताभ कामराज तु श्रुतज्ञान स्वरूपकम् ।
जिनेन्द्र सतत ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु ॥३॥

भूमीश धवलाकार अवधिज्ञान स्वरूपकम् ।
जिनेन्द्र सतत ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु ॥४॥

श्रीबीज हेमवर्णं तु मन पर्ययरूपकम् ।
जिनेन्द्र सतत ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु ॥५॥

अंकानां वामतो गतिः

१ एकम् ।

१० दश ।

१०० शतम् ।

१००० सहस्रम् ।

१०००० अयुतम् ।

१००००० लक्षम् ।

१०००००० नियुतम् ।

१००००००० कोटि ।

१०००००००० अर्बुदम् ।

१००००००००० बृन्दम् ।

१०००००००००० खर्व ।

१००००००००००० निखर्व ।

१०००००००००००० शङ्खम् ।

१००००००००००००० पद्मम् ।

१०००००००००००००० सागर ।

४४३ ई पू के एक अभिलेख की ब्राह्मी लिपि

अभिलेख की प्राप्ति—

प गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने, मिणाय नामक ग्राम (अजमेर से ३२ मील दूर) के एक किसान से, एक पत्थर प्राप्त किया, जिस पर वह तम्बाकू कूटा करता था। पत्थर पर कुछ अक्षर अकित थे। उनकी लिपि प्राचीन थी। पण्डितजी प्रख्यात पुरातत्त्वान्वेषी थे। वे उन अक्षरो को सहज ही पढ सके। वे अक्षर थे—

"विराय भगवताय चतुरसीतिवस काये सालामालिनिय रनि विठ माज्झमिके ।"

अभिप्राय—

महावीर भगवान् से ८४ वर्ष पीछे शालामालिनी नाम के राजा ने माज्झमिका नामक नगरी मे, जो कि प्राचीन समय मे मेवाड की राजधानी थी—किसी बात की स्मृति के लिए यह लेख लिखवाया था।

इससे स्पष्ट है कि यह शिलालेख वीर-निर्वाण के ८४ वर्ष बाद लिखाया गया है, अर्थात् पहले वीर-निर्वाण सवत् प्रचलित था और लेखादि मे उसका उपयोग किया जाता था।

यह शिलालेख अजमेर म्यूजियम मे सुरक्षित है।

सम्राट खारवेल (१७० वर्ष ई.पू.) के शिलालेख की ब्राह्मी लिपि

खारवेल कलिगदेश (उडीसा) के राजा थे। वे चौबीस वर्ष की वय मे राज्य-सिहासन पर अधिष्ठित हुए और उनका यश चतुर्दिक् मे विकीर्ण हो उठा। वे दुखियो के आधार-स्तम्भ, अहिसा के प्रतीक और जिनेन्द्र के परम भक्त थे। उन्होने मगध के राजा नन्द को पराजित किया और अपने कुलदेवता कलिगजिन की खड्गासन मूर्ति को उत्साह और उत्सव के साथ वापस कलिग लाये। कभी कलिगो के कुलदेवता जिन का अपहरण नन्द ने किया था।

उदयगिरि-खण्डगिरि नाम के दो पर्वतो मे १९ गुफाएँ है। उनमे एक हाथी-गुफा कहलाती है। इसका कोई निर्दिष्ट आकार नही है। गठन अतिसाधारण है। इसमे हाथी के चार प्रकोष्ठ और एक बरामदा है। गुफा का अन्तर्देश ५२ फीट लम्बा और २८ फीट चौडा है। द्वार की ऊचाई ११½ फीट है। इस गुफा मे खारवेल का विश्वविख्यात शिलालेख उत्कीर्ण है। ब्राह्मीलिपि मे निबद्ध। बहुत समय तक इसे कोई पढ न सका। डा काशीप्रसाद जायसवाल को इसके पढने मे सोलह वर्ष लगे। उदाहरण स्वरूप इसकी दो पक्तियाँ इस प्रकार है—

नमो अरहतान (।) नमो सवसिधान (।) ऐरेन महाराजेन महमेघवाहनेन चेत राजवसवधनेन पसथ सुलभलखनेन चतुरतल थुन-गुनो पहितेन कलगाधिपतिना सिरि खारवेलेन

पदर वसानि सिरि-कडार-सरीरवता कीडता कुमारकीडिका (।) ततो लेख रूपगणना-ववहार-विधि-विसारदेन सबविजावदातेन नव वसानि योवरजपसासित (।) सपुण-चतुवीसति-वस्ते त दानि वधमान सेसयोवे (=व) नाभिविजयो ततिये

अर्थ—अरहतो को नमस्कार (।) सब सिद्धो को नमस्कार (।) ऐल महाराज मेघवाहन (') चेतराज वश की प्रतिष्ठा के प्रसारक प्रशस्त शुभ लक्षणयुक्त चारो दिशाओ (विश्व) के आधार स्तम्भ के गुणो से विभूषित कलिग देश के राजा श्री खारवेल के द्वारा

(अपने) कात प्रतापी गौरवर्ण किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष-पर्यन्त कुमार क्रीडाएँ करता है (।) इसके उपरान्त लेख मुद्रा राजगणित धर्म (शासन नियम) तथा शासन सचालन मे पारगत समस्त कलाओ मे प्रवीण (उसने) नौ वर्ष तक युवराज पद से शासन करता है। चौबीसवाँ वर्ष समाप्त होने पर पूरे यौवन-भर उत्तरोत्तर विशाल विजेता (उसका) कलिग के तृतीय राजवश मे पूरे जीवन के लिए महाराज्याभिषेक होता है।

शब्दानुक्रमणिका

□□

स्वाध्याय-पृष्ठ